

TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182216

UNIVERSAL
LIBRARY

QUP—24—44-69—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 82/V 82M

Accession No. H 3179

Author

विशाखा दत्त

Title

मुद्राराक्षस

This book should be returned on or before the date last marked below.

मुद्राराक्षस

संस्कृत के सुप्रसिद्ध नाटककार विशाखदत्त के लोकप्रिय
नाटक का हिन्दी अनुवाद

रा ज पा ल ए ण्ड स न्ज़, दि ल्ली



मूल्य	:	दो रुपया
अनुवादक	:	डा० रांगेय राघव
प्रथम संस्करण	:	दिसम्बर, १९५७
प्रकाशक	:	राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली
मुद्रक	:	युगान्तर प्रेस, दिल्ली

सामंत विशाखदत्त रचित 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक का संस्कृत साहित्य में काफ़ी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस नाटक की विशेषताएँ यह हैं कि इसमें—

एक—शुरू से अंत तक सब पुरुष पात्र हैं। केवल एक स्त्री-पात्र है, जिसका कथानक से मूलरूप में कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल करुणारस पैदा करने के लिये उसे स्थान दिया गया है। सदियों बाद इंग्लैंड में शेक्सपियर ने भी ऐसा ही एक नाटक 'जूलियस सीजर' लिखा था, जिसमें सब ही मुख्य रूप से पुरुषपात्र हैं और स्त्रियों का बहुत ही गौण स्थान है।

दो—इसका मुख्य कारण है कि दोनों ही नाटक मुख्यरूप से राजनीति के षड्यंत्र, कुचक्र और दाँव-पेंचों को प्रकट करते हैं। 'मुद्राराक्षस' में मौर्यकालीन भारतीय राजनैतिक परिस्थिति का चित्रण है।

तीन—तीसरी बात यह है कि विशाखदत्त के इस नाटक में कहीं भी तबियत ऊबती नहीं। निरंतर नवीनता मिलती चलती है। कथानक इसीलिये अपनी रोचकता का अंत तक निर्वाह करता रहता है। मुख्यरूप में यही बातें इसके मूल में हैं।

'मुद्राराक्षस' का अर्थ है राक्षस की अंगूठी। राक्षस की अंगूठी में उसकी मुद्रा अर्थात् मुहर भी है। संस्कृत में मुद्रा शब्द मुहर और अंगूठी दोनों के लिये

आता है। यह अंगूठी बहुत महत्वपूर्ण है। इसी अंगूठी के कारण चाणक्य को पता चलता है कि श्रेष्ठि चंदनदास के यहाँ राक्षस का परिवार छिपा हुआ है। बस इतना पता चलते ही चाणक्य अपना खेल शुरू कर देता है। इसी मुद्रा के सहारे से सिद्धार्थक शकटदास से पत्र लिखवाकर मुहर लगाकर राजनीतिक दाँव-पेंच खेलता है। इसी के कारण मलयकेतु का राक्षस से भगड़ा होता है और चंद्रगुप्त मौर्य का रास्ता साफ़ हो जाता है। क्योंकि मुद्रा नाटक की घटनाओं में इतना महत्व रखती है, इस नाटक का नाम कवि ने उचित ही 'मुद्राराक्षस' रखा है।

विशाखदत्त सामंत बटेश्वरदत्त का पौत्र और महाराज पद वाले पृथु का पुत्र था। वह स्वयं बड़ा नीतिज्ञ रहा होगा, जिसने इतनी राजनीति, ज्योतिष आदि के पांडित्य का परिचय दिया है। उसका नाट्यशास्त्र का अध्ययन भी काफ़ी था, क्योंकि उसने बुरे नाटककार और अच्छे कवि के ऊपर भी प्रकाश डाला है। कवि शंकर और विष्णु दोनों को ही भगवान् मानता था। काव्य में गोडी रीति के आधिक्य के कारण लोगों का अनुमान है कि वह गौड़ देश का रहने वाला था। उसने 'क्षपणक' (जैन साधु) दर्शन को, जैसा कि उस समय विश्वास था, अच्छा नहीं माना, परन्तु अर्हतों की प्रशंसा की है। उसने बुद्ध के चरित्र की महानता को भी स्वीकार किया है। हम इस विषय में कुछ नहीं कह सकते कि वह कौन था और कहाँ का था। भारतेंदु का मत है कि पृथु वास्तव में राजा पृथ्वीराज था। वे तर्क देते हैं कि बटेश्वरदत्त जैसे लंबे नाम को जल्दी में सोमेश्वर भी कहा जा सकता है। बटेश्वर में सोमेश्वर से एक मात्रा कम ही है अतः यह बात कुछ भी नहीं जमती। संभवतः सामंत का पुत्र महाराज कैसे हुआ होगा, यही उनके सामने समस्या थी। परन्तु पुराने समय में महाराज एक पद था। तभी—'महाराज पद भाक्' भी कहा गया है। महाराज बड़े जागीरदार किस्म के राजकुल से सम्बन्धित व्यक्ति होते थे। इससे केवल यही प्रकट होता है कि विशाखदत्त एक बहुत कुलीन परिवार का व्यक्ति था। उसकी रुचि केवल राजनीति में ही दिखाई देती है। ब्रजभाषा में अनेक अवघ के कवियों ने कविता की है, इसलिये काव्यशैली से कवि का स्था

ढूँढना उचित नहीं है। कवि अपने वर्णन में कुसुमपुर का उल्लेख करता है। पाटलिपुत्र का ही दूसरा नाम कुसुमपुर था। गुप्तों के समय में कुसुमपुर का महत्त्व बढ़ा था। संभवतः कवि उसी समय था। धनञ्जय के दशरूपक में प्रथम प्रकाश की ६८वीं कारिका के अन्त में मुद्राराक्षस का नाम है। 'सरस्वतीकंठाभरण' के तीसरे परिच्छेद में उल्लेख है। चैतन्याटक में भी नाम है। इससे स्पष्ट होता है कि ईसवी दसवीं शती में यह बहुत प्रसिद्ध नाटक था। कुछ विद्वान् म्लेच्छ शब्द का प्रयोग यहाँ होने से इसे सातवीं सदी का मानते हैं। किन्तु सबसे बड़ी इसमें तीन बातें हैं :

एक तो इसमें जिस पृथ्वी के राज्य की कल्पना है, वह हिमालय से समुद्र तक की है, जो सातवीं सदी तक ह्रासप्राय हो चली थी। मौर्यों से वर्धनों तक ही इसका जोम रहा था, जब कि सामंतीय व्यवस्था विदेशियों से प्रजा की रक्षा करने में प्रगति का आधार थी।

दूसरे इसमें जो अन्त का भरत वाक्य है, वह चन्द्रगुप्त के शासन को दीर्घ-जीवी होने का आशीर्वाद है। उसमें स्पष्ट ही तत्कालीन राजा की प्रसन्नता की बात है, अन्यथा प्रायः भरत वाक्य लोक-कल्याण के अन्य रूपों का वर्णन करते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय गुप्तों में शकारि विक्रमादित्य कहलाता था। उसने ध्रुव-स्वामिनी की रक्षा की थी। इसलिये उसकी स्मृति में उसकी तुलना दांत पर पृथ्वी उठाने वाले वाराह विष्णु अवतार से की जाती थी। उसके समय में वाराह भगवान् की पूजा का काफ़ी प्रचार था। वाराह का भी भरत वाक्य में उल्लेख है। इन बातों को देखकर लगता है कि यह नाटक ईसवी चौथी-पाँचवीं सदी का होना चाहिये। म्लेच्छ शब्द धर्मशास्त्रों और पुराणों में आता है। उसका तुर्क मुसलमानों से ही सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये। बल्कि तुर्क मुसलमानों को यवन ही मुख्यरूप से कहा जाता था, यद्यपि यवन शब्द पुराने ग्रीक लोगों के लिये प्रचलित हुआ था। नाटक में खस, म्लेच्छ, शक और हूणों का भी उल्लेख है। हूणों के लिये यह नहीं समझना चाहिये कि स्कंदगुप्त से पहले वे अज्ञात थे। उनकी शाखाएँ भारत के उत्तर में तब भी थीं। पारसीक आदि भी प्राचीन ही थे।

तीसरी बात यह है कि जब यह नाटक लिखा गया होगा तब मूल चंद्रगुप्त मौर्य की कथा काफ़ी पुरानी पड़ चुकी थी क्योंकि इसमें कुछ गड़बड़ें भी हैं।

यद्यपि इस नाटक ने इतिहास पर बड़ा प्रकाश डाला है, फिर भी सब बातें पूर्ण रूप से ऐतिहासिक ही हों, ऐसा नहीं है। इसमें यह तो आता है कि चंद्रगुप्त मौर्य का मुख्य पौरुष विदेशियों को भगा देना था। अन्त में इस पर जोर है। कथा में भी विदेशियों की समस्या दिखाई पड़ती है, परन्तु राज्य जीतने के दाँव-पेंच बहुत दिखते हैं। इसमें सिकंदर के आक्रमण का कोई उल्लेख नहीं, और पारसीक राजा को भी स्पष्ट रूप से विदेशी नहीं माना गया है। गुप्ते में राक्षस मलयकेतु को भी स्लेच्छ कह जाता है। कथा चाणक्य की चतुरता पर अधिक बल देती है, चंद्रगुप्त की वीरता पर नहीं। यदि यह चंद्रगुप्त द्वितीय के समय का नाटक होता तो क्या चाणक्य का इतना स्थान होता ? परन्तु यहाँ हमें याद रखना चाहिये एक चंद्रगुप्त के बहाने से दूसरे चंद्रगुप्त की जीत पर जोर दिया गया है। गृहकलह दूर करके शांति स्थापित की गई है। पुरुष से स्त्री रूप धर कर छल से शकराज को चंद्रगुप्त द्वितीय ने भी मारा था। उन दिनों की राजनीति भी आज की तरह छल भरी थी। क्षणिक का ब्राह्मण चाणक्य का साथ देना, भारतीय परम्परा में इन दो सम्प्रदायों का विदेशी आक्रमण के समय मिल जाना इंगित करता है। नाटक मौर्यकालीन नहीं है, इसका परिचय यही है कि यहाँ यह दर्शाया गया है कि वास्तव में नन्द का राज्य बहुत ठीक था। केवल चाणक्य के क्रोध के कारण उसे उखाड़ा गया। फिर प्रजा को शांत करने के लिये काफी चालाकियाँ करनी पड़ीं। इसमें नन्द का पुत्र होकर भी चंद्रगुप्त मौर्य दासी-पुत्र है; तभी वृषल है, नीच है, जबकि नन्द को शूद्र नहीं कहा गया है, बल्कि उसे कुलीन भी कहा है।

इन्हीं बातों से लगता है कि नाटक चंद्रगुप्त द्वितीय के समय का हो सकता है।

कथा का प्रमुख पात्र मूलरूप से चाणक्य है। नाटककार ने चाणक्य को बहुत ही धूर्त और कुटिल दिखाया है। वह अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर चुका है। उसका क्रोध भयानक था। वह सब कुछ पहले से ऐसा सोच लेता है कि उसकी हर चाल ऐसी जाती है कि कोई उसे काट ही नहीं पाता। वह सब शत्रुओं को मार डालता है; कुछ को हराता है, और राक्षस को वह चतुर और महत्त्वपूर्ण

तथा प्रभावशाली समझने के कारण जीत लेता है। उसके सामने वस्तुतः राक्षस कोई टक्कर का आदमी नहीं है और चाणक्य भी उसकी इस प्रतिस्पर्धा को देखकर मन ही मन हँसा करता है। चाणक्य राक्षस की स्वामिभक्ति से प्रसन्न है। वैसे चाणक्य त्यागी है, टूटे-फूटे घर में रहता है और निडर होकर राजा से वृषल कहता है। दूसरी ओर राक्षस धन की भी चिंता करता है, निस्पृह भी नहीं, बुरी तरह मात खाता है, और अंत में नंद-विरोधी ही बन जाता है। राक्षस का अंत बहुत ही बुरा है और वह अंत में बहुत ही पदलोलुप-सा दिखाई देता है। चाणक्य बहुत ही बुद्धिमान व्यक्ति है। राक्षस उसकी तुलना में कुछ भी नहीं है। उसका नाम भी विचित्र है। और वह नंद की ऐसी स्तुति गाता है जैसे उसके समय में बड़ा भारी सुख था। बाद में चन्द्रगुप्त की सेवा भी इसीलिये स्वीकार करता है कि चन्द्रगुप्त नंद का ही पुत्र है। वैसे नाटककार ने यही दिखाया है कि राक्षस के अमात्य बनने का कारण चंदनदास के प्राणों की रक्षा करना है, किंतु यहाँ राक्षस का लोभ छिप नहीं पाता। यदि वह आन का पक्का होता तो प्राण दे सकता था और तब चंदनदास की समस्या का भी अंत हो जाता। राक्षस नितान्त कायर नहीं था, इसलिये कवि उससे तलवार भी उठावाता है, पर राक्षस की तलवार भी चाणक्य की बुद्धि से दूर कर दी जाती है। कवि तो बंदिश पूरी बाँधता है, परन्तु राक्षस का पतन किसी से नहीं रुकता। कवि यह दिखाता है कि है तो राक्षस वीर, प्रचंड, स्वामिभक्त और चतुर, परन्तु चाणक्य के सामने वह है कुछ भी नहीं। सबसे बड़ी चाणक्य की महानता तो यह है कि वह अंत में बहुत ही नम्र है, जब कि राक्षस में एक खिसियानापन है। और वह वाजिब भी है। चरित्र चित्रण के दृष्टिकोण से इसमें दो ही पात्र हैं, चाणक्य और राक्षस। बाकी सब काम चलाने वाले लोग हैं। वे तो हुकम बजाने वाले लोग हैं। परन्तु नाटकीय दृष्टि से प्रत्येक बड़ा सफल कार्य करता है। हरएक का काम उम्दा होता है। फिर भी हम यह नहीं भूल पाते, और स्वयं पात्र भी हमें याद दिलाते रहते हैं, कि इन सब कामों के पीछे तो चाणक्य की बुद्धि है। चाणक्य का लोहा बरसता है। वह पाँव उठाता है तो धरती काँपती है। उधर राक्षस परेशान रहता है। नाटक में कहीं भी यह नहीं दिखता कि वह कभी चैन भी पा सका हो। उसने कई चालें चलीं। चाणक्य की नींद तो उसने बिगाड़ी, पर हारा हर जगह। कहीं-कहीं ही नाटककार

पात्रों की मनस्थिति का सामाजिक और व्यक्तिगत परिचय देता है। मलयकेतु को धोखा देते हुए भागुरायण को दुःख होता है। कञ्चुकी को बुढ़ापे की तकलीफ़ है। राजनीति के कुचक्रों में प्रकृति-वर्णन नहीं मिलते। अंतिम दृश्य मृच्छकटिक से मिलता-जुलता है। चंदनदास बड़ा त्यागी है, फिर भी उसके साथ चारुदत्त की-सी संवेदना नहीं जागती। वह राजद्रोही है और इसलिये हम चंद्रगुप्त को इसके लिये अत्याचारी ठहरा ही नहीं पाते। हम जानते हैं कि चंदनदास मरेगा नहीं, क्योंकि चाण्डाल भी वास्तव में चाण्डाल नहीं है और राक्षस भी कायदे से फँसता चला आ रहा है। इसीलिये मैं चंदनदास के चरित्र को भी महत्त्वपूर्ण नहीं मानता। कवि बार-बार उसे शिवि जैसा त्यागी बताता है। शायद वैश्यों को प्रसन्न करना उसके मन में अवश्य था। उस समय व्यापार खूब होता था और सेठों का प्रभुत्व भी था। अंत में तो वह जगत-सेठ बनाया जाता ही है। कवि यह भी कहलवाता है कि परस्त्री से वैश्य प्रेम नहीं करते, वह बड़े शील-वाले होते हैं। इसके अतिरिक्त इस नाटक में चरित्र-चित्रण की कोई विशेषता नहीं है। रस के दृष्टिकोण से इसमें मुख्य रस वीर है। करुण थोड़ा-सा है। राक्षस कई जगह करुणाभरी बातें कहता है, परन्तु वह सब नंद के प्रति है, और नंद से हमारी सहानुभूति यों नहीं होती कि हमें चंद्रगुप्त अच्छा लगता है, हालाँकि चंद्रगुप्त केवल अमात्य चारणक्य के हाथ का खिलौना ही है, परन्तु है तो विजयी चारणक्य का ही प्रिय पात्र। नायक के रूप में वह धीरोदात्त है। त्यागी, कुलीन, कृती, रूपयौवनोत्साही, दक्ष, अनुरक्त, शीलवान्, नेता आदि नायक की कोटि में आते हैं। चंद्रगुप्त क्षमावान्, गंभीर, महासत्त्व, दृढ़व्रत है, अतः धीरोदात्त है। मलयकेतु प्रतिनायक है। यहाँ नायिका और विदूषक हैं ही नहीं। संस्कृत के नाटकों की परम्परा में यह भी सुखांत नाटक है। संस्कृत में ऐसा नाटक दुर्लभ ही है। भावानुसार भाषा का प्रयोग है। अलंकार काफ़ी प्रयुक्त हुए हैं। छोटे-छोटे अंक हैं। शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी आदि प्राकृत भाषाएँ इसमें संस्कृत के अतिरिक्त प्रयुक्त हुई हैं। इतिहास की बात हम फिर दुहराना चाहते हैं। विष्णुगुप्त, चारणक्य, कौटिल्य आदि एक ही व्यक्ति के नाम हैं, यह मुद्राराक्षस ने ही प्रगट किया। और फिर इस विषय में कोई संदेह नहीं रहा। इस नाटक ने भारतीय इतिहास के पूर्वमध्यकाल की राजनैतिक व्यवस्था का काफ़ी परिचय दिया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद किया है। किंतु वह अनुवाद गद्य और पद्य दोनों में है। संस्कृत के गद्य का खड़ी बोली में अनुवाद है और श्लोकों का अनुवाद ब्रजभाषा पद्य में किया गया है। मैंने इसी कारण मुद्राराक्षस का आधुनिक शैली में अनुवाद करने की चेष्टा की है, जिसमें पद्य के स्थान पर गद्य का प्रयोग किया गया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बड़े मनोयोग से 'मुद्राराक्षस' नाटक की पूर्वकथा लिखी है। उन्होंने अपने समय तक के ऐतिहासिक अध्ययन को प्रस्तुत किया है। उस दृष्टिकोण में उन सब बातों का समावेश है जिनको विशाखदत्त ने भी स्वीकार किया है, यद्यपि भारतेन्दु ने बहुत-सी बातें अपने अध्ययन के फलस्वरूप प्रस्तुत की हैं। उनका संक्षिप्त मत यह है—

प्राचीनकाल में मगध से पुरुवंश को हटाकर नन्द वंश ने १३८ वर्ष राज्य किया। उन्हीं के समय में अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) ने भी आक्रमण किया था। महानन्द बड़ा प्रतापी था। उसके दो मन्त्री थे, शकटार शूद्र और राक्षस ब्राह्मण। शकटार क्रोधी था। महानन्द ने क्रुद्ध हो उसे एक निविड बन्दीगृह में डाल दिया। दो सेर सत्तू मात्र उसके परिवार को देता। शकटार दुखी हो गया। एक-एक कर भूखे ही उसके घर के सब लोग मर गये। शकटार रह गया। एक दिन महानन्द के हँसने पर एक दासी विचक्षणा हँस पड़ी। राजा ने कारण पूछा तो वह प्राण-दण्ड के भय से शकटार से कारण पूछने आई और इस प्रकार महानन्द के प्रसन्न होने पर शकटार छूट गया। उसे राक्षस के नीचे मन्त्री बना दिया गया। शकटार को बदले की आग जला रही थी। उसने काला ब्राह्मण ढूँढ़ा जो घास से पाँव कटने पर मट्ठा डाल-डालकर जड़ें जला रहा था। शकटार ने उससे नगर में एक पाठशाला खुलवा दी। एक दिन राजा के यहाँ श्राद्ध में शकटार चाणक्य को ले गया और उसे आसन पर बिठा दिया। चाणक्य का रंग काला, आँखें लाल और दाँत काले थे। नन्द ने उसे अनिमन्त्रित जानकर बाल पकड़ कर निकलवा दिया। चाणक्य ने शिखा खोलकर नन्द वंश के विनाश की प्रतिज्ञा की। शकटार ने उसे घर बुलाकर विचक्षणा को उसके काम में मदद देने को लगाया। महानन्द के ६ बेटे थे। ८ विवाहिता रानी से, एक मुरा नामक

नाइन से—चन्द्रगुप्त । इसी से मुरा का पुत्र मौर्य कहलाता था, वृषल भी । चंद्रगुप्त बड़ा विद्वान् था । आठों भाई उससे जलते थे । रूम के बादशाह ने एक पिंजरे में एक शेर भेजा था कि बिना खोले शेर बाहर कर दो । वह मोम का था, चंद्रगुप्त ने उसे पिघलाकर निकाल दिया । महानंद भी इससे कुढ़ता था । चंद्रगुप्त बड़ा था, सो अपने को राज का भागी मानता था । चाणक्य और शकटार ने चंद्रगुप्त को राज्य का लोभ दिया । चाणक्य ने अपनी कुटी में जाकर विष मिले पकवान बनाये, विचक्षणा ने वे पकवान महानन्द को पुत्रों समेत खिला दिये । वे सब मर गये । शकटार अपने पापों से संतप्त होकर वन में चला गया और वहाँ अनशन करके मर गया । चाणक्य फिर अपने अन्तरंग मित्र जीवसिद्धि को क्षपणक के वेश में राक्षस के पास छोड़कर विदेश गया और उत्तर के निवासी पर्वतेश्वर नामक राजा को मगध का आधा राज्य देने के लोभ से ले आया । पर्वतक का भाई वैरोधक या वैरोचक था, पुत्र था मलयकेतु । उसके साथ म्लेच्छ राजा थे । उधर राक्षस ने नन्द के भाई सर्वार्थसिद्धि को राजा बना दिया । चाणक्य ने घेरा डलवाया । १५ दिन युद्ध हुआ । जीवसिद्धि ने स्वार्थसिद्धि को बहकाकर तपोवन भेज दिया । राक्षस उसे मनाने को चंदनदास नामक व्यापारी के घर अपना परिवार छोड़कर चला । चाणक्य ने उसे पहले ही मरवा डाला । चंद्रगुप्त को राजा बना दिया । राक्षस ने पर्वतेश्वर के मंत्री को बहकाया । मंत्री ने पर्वतेश्वर को लिखकर भेजा । इसके बाद राक्षस ने चंद्रगुप्त को मारने को विष-कन्या भेजी । जीवसिद्धि ने बता दिया तो चाणक्य ने उसे पर्वतेश्वर के पास पहुँचा कर उसे मरवा डाला, और नगर के प्रतिष्ठित नागरिक भागुरायण से कहकर मलयकेतु को भी भगवा दिया । चाणक्य ने साथ ही अपने विश्वस्त भद्रभट आदि उसकी सेना में भेज दिये । राक्षस अब मलयकेतु के साथ हो गया । चाणक्य ने यह उड़वा दिया कि राक्षस ने ही विषकन्या को भेजकर चंद्रगुप्त के मित्र पर्वतक को मरवा डाला और स्वयं आधा राज्य देने की बात को छिपा गया ।

प्रस्तुत नाटक इससे आगे की कथा का वर्णन करता है ।

चंद्रगुप्त मौर्य के विषय में इतिहास यह बताता है कि वह मौरियवन के क्षत्रियों में से था । इसीलिये उसका नाम मौर्य पड़ा था । वह दासी-पुत्र नहीं

था, वरन् उन क्षत्रियों में से था जोकि ब्राह्मण-धर्म का प्रभुत्व स्वीकार नहीं करते थे। गौतम बुद्ध के समय में क्षत्रियों ने बुद्धि-पक्ष में तथा दर्शन के क्षेत्र में ब्राह्मणों से बड़ी टक्कर ली थी। उस समय मगध का राजा बिंबसार था। इसका पुत्र अजातशत्रु हुआ जिसने अपने पिता की हत्या की थी। बिंबसार का वंश शैशुनाग वंश भी कहलाता है। इस वंश के उपरांत हम नंद वंश का उत्थान देखते हैं। नंद वंश को शूद्र वंश कहा गया है। नंदों के वैभव का सिक्का जमा हुआ था। किन्तु उस समय ब्राह्मण अप्रसन्न थे। चाणक्य ने ही नन्द वंश को वृषल क्षत्रिय चंद्रगुप्त से मिलकर उखाड़ दिया था। चाणक्य तक्षशिला में पढ़ाता था। बाद में वह मगध पहुँचा, जहाँ उसका अपमान हुआ। चंद्रगुप्त उस समय राजा नन्द के मयूरों और उद्यानों का रखवाला था। उसकी वीरता से नन्द प्रसन्न हो गया और उसने उसे सेनापति बना दिया। कुछ दिन बाद वह उससे अप्रसन्न हो गया। यह देखकर चंद्रगुप्त भाग गया और उसने पाटलिपुत्र में विप्लव करा दिया, जिसे राजा नन्द ने कुचल दिया। चंद्रगुप्त भाग कर उत्तर-पश्चिम भारत में आ गया, जहाँ वह सिकंदर से मिला, परंतु किसी बात पर उसका सिकंदर से झगड़ा हो गया और वह फिर भाग निकला। बड़ी मुश्किल से चाणक्य और चंद्रगुप्त ने विध्यप्रदेश में डाकुओं को एकत्र करके सेना खड़ी की और पहले सीमाप्रांत के राज्यों को जीता, तदनन्तर अन्त में मगध पर शासन जमाया। लगभग बीस वर्ष बाद यवन सिल्यूकस निकटोर ने भारत पर आक्रमण किया, जिसमें यवनों को चन्द्रगुप्त ने पराजित किया और बालूची आदि प्रांतों को भी अपने साम्राज्य में मिला लिया। कुछ लोगों का मत है कि चाणक्य अन्त में तपोवन में चला गया। आज के ऐतिहासज्ञों ने बहुत खोज-बीनकर इतने तथ्य पाये हैं। विशाखदत्त की कथा में इस कथा से इतना ही साम्य है कि चाणक्य का नंद ने अपमान किया था। चंद्रगुप्त को चाणक्य ने गद्दी पर बिठाया, अपना बदला लिया।

राक्षस के विषय में इतिहास कुछ नहीं बोलता। शकटार के बारे में भी विशेष कुछ नहीं आता। कुछ लोगों का मत है कि नन्द का मन्त्री वररुचि था। कुछ कहते हैं कात्यायन था। जो हो, कथाएँ बहुत बन जाती हैं और पुरानी घटनाओं को फटक कर अलग कर लेना वस्तुतः असंभव होता है। विशाखदत्त के समय में पुरानी कथा काफ़ी चमत्कारों से लद गई थी। मौर्य का मुरादासी

का पुत्र हो जाना भी इतिहास की एक भूल ही कही जा सकती है, क्योंकि तब तक वृषल का अर्थ भूला जा चुका था। दासी-पुत्र होने से उसे चाणक्य वृषल कहता था, ऐसी विशाखदत्त ने व्याख्या की है, क्योंकि उसके मतानुसार चाणक्य निस्पृह ब्राह्मण था और उसे न किसी की चिन्ता थी, न किसी का डर। किन्तु यह विशाखदत्त के युग की व्याख्यामात्र है। चंद्रगुप्त का वृषल नाम परम्परा में प्रचलित रह गया होगा और बाद में उसे समझने की इस प्रकार चेष्टा की गई होगी। यदि प्रस्तुत नाटक को चौथी-पाँचवीं शती का भी माना जाये, तो भी जिस घटना का इसमें वर्णन है, वह नाटककार से लगभग सात या साढ़े सात सौ बरस पुरानी थी। जैसे आज कोई कवि या नाटककार गुलामवंश के बलवन या रज़िया के बारे में लिखे तो उसे इतिहास का जितना अभाव है, उससे कहीं अधिक विशाखदत्त के युग में था। राक्षस ऐतिहासिक पात्र था या नहीं, यह भी संदेहास्पद है। बृहत्कथा में वररुचि का उल्लेख है जिसकी एक राक्षस से मित्रता थी। राक्षस मनुष्य नहीं था। वह पाटलिपुत्र के पास घूमा करता था। वह एक रात वररुचि से मिला और बोला कि इस नगर में कौन-सी स्त्री सुन्दरी है। वररुचि ने कहा—जो जिसको रुचे वही सुन्दरी है।—इस पर राक्षस ने उससे प्रसन्न होकर मित्रता कर ली और उसकी राजकाज में सहायता करने लगा। इस कथा से कुछ भी पता नहीं चलता। यहाँ तो यह लगता है कि यदि कोई राक्षस नामक व्यक्ति उस समय था भी, तो वह यहाँ तक आते-आते मनुष्य नहीं रहा था। नामसाम्य के कारण राक्षस हो गया था। विशाखदत्त के नाटक की ऐतिहासिकता इसीलिए प्रामाणिक नहीं है। परन्तु प्रामाणिक यह है कि कवि अपने युग को घोर कलिकाल मानता था; उसने कहा भी है कि सच्ची मित्रता तब दुर्लभ थी। कवि क्षत्रिय था, विष्णु और शंकर का उपासक था, परन्तु वह वैश्यों, ब्राह्मणों और बौद्धों तथा जैनों का भी विरोधी नहीं था। यह सहिष्णुता हमें गुप्तों के उत्कर्षकाल में मिलती है। हमें विशाखदत्त को इसके बहुरूपों में न देखकर नाटकीय घात-प्रतिघातों में ही सीमित करके देखना चाहिये। जो भी कथा विशाखदत्त ने ली है, वह बहुत ही आकर्षक ढंग से हमारे सामने प्रस्तुत की गई है।

एक बात मुझे इस नाटक के बारे में विशेष महत्त्वपूर्ण लगी। वह यह है कि इसमें घटनाओं के उल्लेख का बाहुल्य है, और वह भी बातचीत में ही। अंकों

में घटनाएँ तीव्रता से नहीं चलतीं। कथा में 'अब क्या होगा' का कौतूहल अधिक है, वैसे कोई विशेषता नहीं।

पहले अंक में चाणक्य का चिंतन, शकटदास द्वारा पत्र लिखवाने की सलाह, सेनापतियों का भागना, शकटदास और सिद्धार्थक का भागना, चंदनदास का अडिग रहना आदि हैं। परन्तु 'एक्शन' यानी कर्म बहुत कम है।

दूसरे अंक में राक्षस और विराधगुप्त का प्रायः संवाद ही संवाद है जिसमें सारी कथाएँ दुहराई जाती हैं।

तीसरे अंक में चंद्रगुप्त और चाणक्य की नकली लड़ाई हो जाती है।

चौथे अंक में मलयकेतु में भागुरायण संदेह पैदा कर देता है।

पाँचवें अंक में कथा में काफ़ी रोचक घटनाएँ हैं। नाटकीय ढंग भी यहीं अधिक दिखाई देता है।

छठे अंक में कोई विशेषता नहीं। कुछ दया ज़रूर पैदा होती है।

सातवें अंक में भी 'एक्शन' बहुत कम ही है। और सारे नाटक में यह कमी सबसे अधिक इसलिए खटकती है कि नाटक का नायक चंद्रगुप्त पूरे नाटक में तीसरे और सातवें अंक में दिखाई देता है। तीसरे अंक भर में वह लज्जित होता है। और सातवें में उसकी कोई विशेषता नहीं।

इसके विपरीत चाणक्य पहले, तीसरे, और सातवें अंक में दिखाई पड़ता है। राक्षस दूसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें अंकों में है। हम तो यही ठीक समझते हैं कि इस नाटक का नायक, जो शास्त्रीय विवेचनानुसार चंद्रगुप्त माना जाता है, वह नायक नहीं है। नायक तो चाणक्य है और प्रतिनायक है राक्षस, जो अंत में पराजित हो जाता है। इस दृष्टिकोण से यह बहुत ही सफल नाटक है। इसे मानते ही हमें चरित्र-चित्रण का भी अभाव नहीं मिलता। तब तो अपने आप हम नायक और प्रतिनायक की टक्कर ही नहीं, एक दूसरे को ही सीधे, या घूम कर, हर तरीके से सब पर छाया हुआ देखते हैं। स्त्री पात्र का अभाव, प्रकृति-चित्रण का अभाव, इत्यादि कुछ भी नहीं अखरते। आजतक मुद्राराक्षस पुजा तो है, परन्तु उन कारणों को किसी ने नहीं देखा, जो इसकी मूल-शक्ति हैं। यह एक बुद्धि-प्रधान नाटक है। हृदय-पक्ष वाले अंश इसमें बहुत थोड़े हैं। परन्तु बीच-बीच में उन्हें रखकर मर्म का स्पर्श किया गया है। इसमें जो संवेदना की कचोट पैदा होती है, वह पात्र की अपनी विशेष बात को बार-बार

दुहराने से, जैसे बार-बार राक्षस और चंदनदास, स्वामिभक्ति और मित्र-वत्सलता की ही बात को कहे चले जाते हैं ।

अंत में हम कह सकते हैं कि यह नाटक बहुत अच्छा नाटक है और इसमें एक विशेषता है कि आप इसे इतना सुगठित पाते हैं कि इसमें से आप एक वाक्य भी इधर से उधर सरलता से नहीं कर सकते । यदि कहीं अतीत का भावव्यंजक स्मरण ही है, तब भी वह वर्तमान की तुलना में उपस्थित किया गया है और इसीलिये वह अनिवार्य है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि वह प्रवाह को तोड़ देता है ।

और संस्कृत नाटको की भाँति एक समय यह भी खेला ही गया था । उस समय पदों का प्रयोग होता था । 'मुद्राराक्षस' में जवनिका—जल्दी गिरने वाले पदों—का भी उल्लेख हुआ है, किन्तु सारे सेट नहीं बनते थे । सामाजिकों अर्थात् दर्शकों को काफ़ी कल्पना से काम चलाना पड़ता था । हम इतना ही कह सकते हैं कि बहुत थोड़े परिवर्तनों से दृश्य-विभाजन करके इस नाटक को बड़ी आसानी से खेला जा सकता है, जो इस विषय में दिलचस्पी रखते हैं, उन्हें अवश्य खेलना चाहिये, क्योंकि संस्कृत नाटकों में नाटकीयता काफ़ी मात्रा में प्राप्त होती है ।

'मुद्राराक्षस' एक सामंत का लिखा हुआ नाटक है, किन्तु यह इस बात का प्रमाण है कि कवि अपने वर्ग में सीमित नहीं रहता । वह दलित और व्यथित की वास्तविक मनोभावनाओं को अपने चरित्रों की मनोनुकूल अवस्थाओं के माध्यम से निष्पक्ष अभिव्यक्ति देता है । वह राजा के उत्तरदायित्व की वास्तविकता भी दिखाता है, और राजनीतिग्रस्त मानवों की उलझनें भी । इसलिये कि यह नाटक अपनी अभिव्यक्तियों में सर्वतन्त्रेण स्वतन्त्र है, कला की दृष्टि से इसका मूल्य हमारी दृष्टि में काफ़ी ऊँचा है ।

'मुद्राराक्षस' प्रेम-कथा नहीं, समस्यात्मक कथा को लेकर चलता है और उसका अन्त तक निर्वाह भी सफलता से करता है । संभवतः यही कारण है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी के नवयुग के उन्मेष में इसका महत्त्व प्रतिपादन करने के लिये इसका अनुवाद किया था ।

मैंने अपने अनुवाद को प्रयत्न कर सहज बनाने की चेष्टा की है । यदि मैं इसमें सफल हो सका हूँ, तो अवश्य ही अपने परिश्रम को भी सफल मानूँगा ।

—रांगेय राघव

पात्र

चाणक्य	:	नन्दवंश-विनाशी ब्राह्मण, चन्द्रगुप्त का अमात्य
शार्ङ्ग रव	:	उसका शिष्य
सिद्धार्थक	:	चाण्डाल का रूप भी धरता है, चाणक्य का चर है
चन्दनदास	:	श्रेष्ठि, राक्षस का मित्र
जीर्णविष (सँपेरा) विराधगुप्त :		राक्षस का आदमी है
राक्षस	:	नन्द का पुराना अमात्य, चंद्रगुप्त का शत्रु, फिर अमात्य
कंचुकी जाजलि	:	मलयकेतु का कंचुकी
प्रियंवदक	:	पुरुष अर्थात् सेवक, राक्षस का सेवक
शकटदास	:	राक्षस का कायस्थ मुंशी
कंचुकी वैहीनरे	:	चन्द्रगुप्त का कंचुकी
राजा चंद्रगुप्त	:	सम्राट् नन्द का पुत्र
करभक	:	राक्षस का गुप्तचर
मलयकेतु	:	पर्वतेश्वर का पुत्र, चंद्रगुप्त का शत्रु
भागुरायण	:	चंद्रगुप्त का भृत्य
जीवसिद्धि	:	क्षणक
भामुरक	:	एक सैनिक, मलयकेतु की सेना का भृत्य
सुसिद्धार्थक	:	चाण्डाल का रूप भी धरता है, सिद्धार्थक का मित्र
बालक	:	चंदनदास का पुत्र
कुटुम्बिनी	:	चंदनदास की पत्नी

[चर, प्रतीहारी, अन्य प्रतीहारी, नेपथ्य में दो वंतालिक, दौवारिक, सैनिक, पुरुष, आदि]

पहला अंक

नांदी

शंकर-शिर-स्थित—गंगा विलोक
पूछा पार्वति ने : “हे प्रियतम !
यह कौन पूज्य इतनी है जो
सिर पर धारी है हे निरुपम !”
बोले : “शशिकला” सुना, बोली :
“क्या यही नाम है सच कहना !”
शिव बोले : “यह ही नाम प्रिये,
क्या भूल गई इतना मिलना ?”
“मैं तो नारी के बारे में थी पूछ रही
न कि इस शशि के,”
“मानतीं नहीं यदि, तो पूछो
‘विजया’ से, कह देगी सब रे ।”
यह कह जो पार्वति से गंगा
की बात छिपाते हैं शंकर,
उनकी यह सूक्ष्म चतुरता ही
सब का कल्याण करे सत्वर !

और भी—

धंस जाये न धरती, इस शंका से
धरते पग अपने जो सँभाल,
: १७ :

रक्षा दिगंत की करते जो
 संकुचित किये निज भुज-विशाल,
 हो जाये न त्रिभुवन भस्म, खोलते
 नहीं इसलिये दृग तृतीय,
 त्रिपुरारि जटी का अस्वतन्त्र
 ताण्डव कराल वह अद्वितीय
 सबका कल्याण करे युग-युग
 है यही कामना बार बार,
 डमरू निनाद परिवर्तित हो
 चिर सुख में धरती पर उदार ।

सूत्रधार : बस ! बस ! इतना ही काफी है । मुझे परिषद् ने आज्ञा दी है कि सामंत बटेश्वरदत्त के पौत्र 'महाराज' पद युक्त पृथु के पुत्र कवि विशाखदत्त की कृति मुद्राराक्षस नामक नाटक खेलूँ । सचाई तो यह है कि नाटक के गुण-दोष जानने वाली इस सभा में नाटक खेलते हुए मुझे भी मन में बड़ा सन्तोष हो रहा है । अच्छे खेत में किसानों से अनजान किसान का डाला हुआ बीज भी बढ़ता है । उगने के लिये बीज बोने वाले की चिंता नहीं करता । इसलिये मैं घरवाली और घर के लोगों को बुला कर गाने-बजाने का काम शुरू करता हूँ । (घूम कर देख कर) घर आ गया चलूँ ।

(प्रवेश कर देख कर) अरे ! आज घर में कोई उत्सव है ? सब अपने-अपने काम में लगे हैं । कोई स्त्री जल ला रही है, कोई सुगन्धित वस्तुओं को पीस रही है, कोई माथा गूँथ रही है तो किसी की हुंकारें मूसल की आवाज़ में मिली जा रही हैं । घर वाली को बुलाकर पूछूँ । (नेपथ्य की ओर देख कर) अरी सुघर घर वाली ! दुनियादारी की बुनियाद तू ही तो है ! धर्म-

अर्थ-काम को तू ही तो सिद्ध करती है ! मेरे घर में नीति का स्वरूप बनी डोलती है । मेरी प्रिये ! जरा जल्दी बाहर तो आ !

नटी : (प्रवेश कर) आर्य्यपुत्र ! मैं आ गई । आज्ञा दें, कृतार्थ होऊँ ।

सूत्रधार : रहने दे आज्ञा ! यह बता कि क्या तूने ही पूज्य ब्राह्मणों को निमंत्रण दे कर घर वालों को उबार लिया है ? या ये अपने आप आये हैं यहाँ ? खाना तो जोरों से बन रहा है, उन्हीं के लिये न ?

नटी : आर्य्य ! मैंने ही निमंत्रित किया है ।

सूत्रधार : भला क्यों ?

नटी : आज चन्द्रग्रहण है न ?

सूत्रधार : किसने कहा ?

नटी : सारे नगरवासी कह रहे हैं !

सूत्रधार : आर्य्य ! मैंने चौसठ अंगों वाले ज्योतिष शास्त्र को बड़ी मेहनत से और गहराई से पढ़ा है । खैर, ब्राह्मणों के लिये भोजन तो बनाओ । पर चन्द्रग्रहण कह कर कोई तुम्हें बहका गया है । देखो—यह भयानक राहु अपूर्ण चंद्र को बलपूर्वक ग्रसना चाहता है,...

[नेपथ्य में : अरे ! मेरे जीवित रहते कौन चंद्रगुप्त का जबर्दस्ती अपमान करना चाहता है ?]

सूत्रधार : (बात पूरी करता हुआ) लेकिन बुध ग्रह का योग ग्रसे जाते हुए चंद्रमा की रक्षा करता है ।

नटी : वह तो आर्य्य ! आकाश की बात है, परंतु यह धरती पर रहता हुआ कौन है जो आकाश में रहने वाले चंद्रमा की राहु से रक्षा करना चाहता है !

सूत्रधार : आर्य्य ! मैं नहीं जानता, जाने कौन है ? ठहर ! आवाज

से पहचानने की चेष्टा करता हूँ। (ज़ोर से) अरे देखो-देखो, भयानक राहु बलपूर्वक अधूरे चंद्र को ग्रस लेना चाहता है !

[नेपथ्य में : अरे-अरे ! मेरे रहते हुए चंद्रगुप्त का कौन बलपूर्वक अपमान करना चाहता है ?]

सूत्रधार : (सुन कर) लो समझ गया ! कौटिल्य हैं !

[यह सुनते ही नटी डर जाती है ।]

सूत्रधार : यह वही कुटिल बुद्धि कौटिल्य है, जिसने अपने क्रोध की अग्नि से सारे नंदवंश को ही जबरन भस्म कर दिया। चंद्रग्रहण शब्दों को सुन कर उसे यह संदेह हो गया है कि कोई शत्रु चंद्रगुप्त पर आक्रमण न कर दे। नाम एक-से हैं, इसी से। इसलिये अब यहाँ से चलना ही ठीक है।

[दोनों का प्रस्थान]

[प्रस्तावना समाप्त]

[खुली हुई चुटिया को छूते हुए चारणव्य का प्रवेश]

चारणव्य : कौन है जो मेरे जीते जी बल प्रयोग करके चंद्रगुप्त का अपमान करना चाहता है ? कौन है जो जमुहाई लेते मुँह फैलाये सिंह के मुख में से हाथियों का लहू पी-पी कर, संध्या के चंद्र की कलाओं की-सी, लाल-लाल दाढ़ को बलपूर्वक उखाड़ने का साहस रखता है। नन्दकुल के लिये नागिन बनी हुई, क्रोधाग्नि की चंचल धूमरेखा की-सी मेरी इस शिखा को आज भी बँधने से रोक रहा है ? मैंने नंदवंश को समूल नष्ट किया है। मेरा प्रदीप्त प्रताप दावानल की तरह धधक रहा है। कौन है जो

उसका तिरस्कार करके अपने-पराये का ज्ञान खो कर, इस प्रचण्ड अग्नि में पतंगे की तरह भस्म हो जाना चाहता है।

शाङ्गैरव ! शाङ्गैरव !!

शिष्य : (प्रवेश कर) गुरुदेव ! आज्ञा दें !

चारणक्य : वत्स ! बैठना चाहता हूँ।

शिष्य : गुरुदेव ! इस द्वार के पास वाले प्रकोष्ठ में बेंत का आसन है, आप वहीं बैठिये न ?

चारणक्य : वत्स ! इतना काम है कि बार-बार तुम्हें कष्ट देना पड़ता है। मत समझना कि तुम पर कठोरता करता हूँ। (बैठ कर स्वगत) नगरवासियों में यह बात कैसे फैल गई कि नंदवंश के विनाश से विक्षुब्ध हुआ राक्षस अब, पिता की मृत्यु से क्रुद्ध और सारे ही नंदराज्य को पाने की तीव्र इच्छा के उत्साह से भरे हुए पर्वतेश्वर के पुत्र मलयकेतु से मिल कर इस चेष्टा में है कि मलयकेतु के द्वारा एकत्रित म्लेच्छराज को भी साथ ले कर चंद्रगुप्त पर आक्रमण कर दे ! (सोच कर) मैंने सारी प्रजा के सामने प्रतिज्ञा की और नंदवंश-विनाश की प्रतिज्ञारूपी नदी को तैर कर पार कर दिया, तो क्या वही मैं इस प्रवाद को शांत नहीं कर सकूँगा ? मेरी क्रोधाग्नि ऐसी भयानक है कि वह शोक का धूँआ फैला कर शत्रु-रमणियों की-सी दिशाओं के मुखचंद्रों को म्लान बना चुकी है। मंत्रीरूपी वृक्षों पर अपने नीति रूपी पवन से अविवेक की भस्म फैलाकर, वह नागरिकों और ब्राह्मणों को छोड़ कर, नंदकुल के सारे अंकुरों को भी भस्म कर चुकी है। अब जलाने को कुछ नहीं रहा। क्या इसीलिये मेरी क्रोधाग्नि दावानल की तरह शांत हो रही है ? जिन्होंने एक दिन नन्द के भय से सिर झुका कर, उसको मन ही मन धिक्कारते हुए शोक

से भर कर, मुझ जैसे श्रेष्ठ ब्राह्मण को आसन से उठाये जाने का अपमान देखा था, आज वे वैसे ही पर्वत पर से सिंह द्वारा गिराये हाथी की तरह सारे कुटुंब के साथ नंद को सिंहासन से उतरा हुआ देख रहे हैं ! मैं प्रतिज्ञा के भार से मुक्त हो चुका हूँ किंतु चंद्रगुप्त के आग्रह पर अब भी शस्त्र धारण कर रहा हूँ । पृथ्वी पर रोगों की तरह फैले नवनों को मैंने उखाड़ कर फेंक दिया । जैसे सरोवर में कमलनाल होती है, वैसे ही मैंने चंद्रगुप्त की राज्यलक्ष्मी को बहुत दिनों के लिये स्थिर कर दिया । मैंने उद्यत मन से क्रोध और स्नेह के गूढ़ तत्वों को शत्रु और मित्रों में बांट कर फैला दिया है । लेकिन राक्षस को पकड़े बिना क्या बिगाड़ा है मैंने नंदवंश का ? उसके रहते मैंने चंद्रगुप्त की राज्यश्री क्या सचमुच स्थिर कर दी है ? राक्षस को अब भी नंदवंश के प्रति अत्यंत स्नेह है । उसे एक भी नंदवंशीय आदमी के जीते जी चंद्रगुप्त का मंत्री बनाना बड़ा कठिन है । मैं नंदवंशीय व्यक्ति को तो राजा नहीं बना सकता, हाँ राक्षस को पकड़ सकता हूँ । यही सोच कर मैंने तपोवन में तपस्या में लगे नंदवंश के आखिरी निशान सर्वार्थसिद्धि को भी मरवा डाला है । फिर भी राक्षस अब मलयकेतु की मदद ले कर हमें उखाड़ देने में लगा हुआ है । (आकाश में देख कर जैसे प्रत्यक्ष देख रहा हो ।) अमात्यश्रेष्ठ राक्षस ! तुम धन्य हो ! मन्त्रियों में बृहस्पति की भाँति बुद्धिमान ! तुम धन्य हो ! संसारी लोग तो धन के लोभ से स्वामी की सेवा करते हैं । वे तो उसका विपत्ति में भी साथ देते हैं तो उसकी उन्नति में अपना लाभ देख कर । किंतु जो स्वामी के मारे जाने के बाद भी पुराने उपकारों को याद करके श्रद्धा से उसके काम को चलाता है,

ऐसा तुम जैसा आदमी तो दुनिया में मिलना भी कठिन है। इसीलिये तो मैं तुम्हें पकड़ना चाहता हूँ। क्या सचमुच राक्षस चंद्रगुप्त का मंत्री बन कर प्रसन्नता का अनुभव कर सकता है? सचमुच ! प्रेमी भी हो परंतु निर्बल और मूर्ख सेवक से लाभ ही क्या है? और उस बल और बुद्धि वाले सेवक से भी क्या लाभ जिसमें स्वामी के प्रति कोई भक्ति नहीं होती ! बल, बुद्धि और स्वामिभक्ति जिसमें तीनों हों, जो स्वामी के सुख-दुःख में साथ रहे, वही असली सेवक है, वरना फिर उसकी तो स्त्रियों की भांति ही उल्टे रक्षा ही करनी पड़ती है। और मैं इस बारे में सो नहीं रहा हूँ। अपनी पूरी सामर्थ्य लगा रहा हूँ। “चंद्रगुप्त और पर्वतेश्वर—इन दो में से किसी एक के मरने से चाणक्य का नुकसान होता है, इसीलिये तो राक्षस ने मेरे परम मित्र पर्वतेश्वर को विपकन्या* के द्वारा मरवा डाला है।” मैंने यह समाचार प्रजा में फैला दिया है। जनता को विश्वास दिलाया है कि मलयकेतु के पिता को चाणक्य ने मारा है। एकांत में भय दिखा कर भागुरायण के साथ मलयकेतु को भगा दिया है। राक्षस की नीति पर टिक कर युद्ध-तत्पर मलयकेतु को मैं अपनी बुद्धि से पकड़ सकता हूँ। पर उसके पकड़ने से पर्वतेश्वर के वध का कलंक तो नहीं मिट सकता। मैंने अपने पक्ष और विपक्ष के होने वाले लोगों के बारे में जानकारी प्राप्त करने को अनेक आचार-विचार और भाषा जानने वाले चरों

* जहर दे-दे कर बचपन से पाली गई लड़की, जिसके शरीर में इतना विष हो जाता था कि उसके एक चुम्बन से ही आदमी मर जाता था। ऐसी विष-कन्याएँ सुन्दरी होती थीं। राजा एक दूसरे को मरवाने को ऐसी कन्याएँ भेज देते थे, जिनके चुम्बन से शत्रु मर जाते थे।

को नियुक्त कर दिया है। मेरे गुप्तचर कुसुमपुर निवासी नंद के मंत्रियों के मित्रों की हर एक चाल को ध्यान से देख रहे हैं। चंद्रगुप्त का साथ देने वाले भद्रभट आदि प्रधान पुरुषों को खूब दे-दे कर तरह-तरह से अपनी ओर कर लिया है। शत्रु कहीं विष न दे दें, इसलिये अच्छी जाँच वाले, होशियार आदमी मैंने राजा के पास रख दिये हैं। मेरा सहाध्यायी* विष्णुशर्मा तो शुक्रनीति और चौंसठ अंगवाले ज्योतिष शास्त्र का पण्डित है। नंदवध की प्रतिज्ञा करके मैंने ही उसे भिक्षुवेष में ले जा कर सब मंत्रियों से कुसुमपुर में उसकी मित्रता करा दी थी। राक्षस को तो उसमें विशेष विश्वास है। इससे बड़ा काम निकलेगा। बात तो कोई न छूटेगी। चंद्रगुप्त तो केवल प्रधान पुरुष है। सब राजकार्य हम पर ही छोड़ कर उदासीन है या करने लायक कामों की तेजी छोड़ कर अब राज के सुख भोगने में लग गया है ! सच है। स्वभाव से बली राजा और हाथी दोनों ही अपने कमाये राज्य या खाने को पाने पर थक जाने से बस उसे भोगते हुए भी थकान का ही अनुभव किया करते हैं।

[यमपट को लिये चर का प्रवेश]

चर : यम भगवान के चरणों की वंदना करो ! दूसरे देवताओं की पूजा से लाभ भी क्या ? यह यमराज तो दूसरे देवताओं के तड़पते भक्तों को यों ही मार डालते हैं। इन विषम यमराज की भक्ति से ही जीवन मिलता है। वे सबके संहारक हैं और हम भी उन्हीं की दया से जीवित हैं। अब मैं इस यमपट को दिखा कर गाऊँ !

[घूमता है ।]

शिष्य : (देख कर) भद्र ! भीतर मत घुसो ।

चर : अरे ब्राह्मण ! यह किसका घर है ?

शिष्य : यह हमारे उपाध्याय आर्य चाणक्य का मकान है ।

चर : (हँस कर) अरे ब्राह्मण ! तब तो यह अपने भाई का ही घर है । मुझे भीतर जाने दो ताकि तुम्हारे उपाध्याय को धर्मोद्देश दे सकूँ !

शिष्य : (क्रोध से) मूर्ख ! क्या तू मेरे गुरु से भी धर्म को अधिक जानता है ?

चर : अरे ब्राह्मण ! क्रुद्ध क्यों होते हो ? सब लोग सारी बातें नहीं जानते । अगर कुछ तुम्हारे गुरु जानते हैं, तो कुछ हम भी जानते हैं ।

शिष्य : (क्रोध से) तो क्या तू मूर्ख ! हमारे उपाध्याय के 'सब कुछ जानने वाले' नाम को मिटाने आया है ?

चर : ब्राह्मण ! यदि तुम्हारे आचार्य्य सब कुछ जानते हैं तो क्या वे यह भी जान सकते हैं कि चंद्रमा किसे अच्छा नहीं लगता ?

शिष्य : इसे जानने से उन्हें मतलब ?

चर : ब्राह्मण ! यह तो वे ही जानेंगे कि इससे क्या लाभ है ! तुम तो सरल बुद्धि हो और यही जान सकते हो कि कमलों को चंद्र अच्छा नहीं लगता । होते हैं कमल बहुत सुंदर परंतु काम उनका होता है उल्टा । पूर्ण चंद्र को देख कर वे मुरझा जाते हैं ।

चाणक्य : (सुन कर स्वगत) अरे ! इसने कहा कि मैं चंद्रगुप्त का विरोध करने वालों को जानता हूँ ?

शिष्य : मूर्ख ! क्या बेकार की बातें बक रहा है !

चर : ब्राह्मण ! जो मेरी बात बिल्कुल ठीक ही हो तो ?

शिष्य : कैसे ?

चर : यदि मैं सुनने और समझने वाले मनुष्य को पा सकूँ ।

चाणक्य : (देख कर) भद्र ! सुख से प्रवेश करो । यहाँ सुनने और जानने वाला मिलेगा ।

चर : अभी आता हूँ । (प्रवेश करके पास जा कर) आर्य्य की जय !

चाणक्य : (देख कर स्वगत) इतने अधिक काम के कारण यह भी याद नहीं आ रहा है कि मैंने इसे क्यों भेजा था । (सोच कर) हाँ ! याद आया । इसे तो जनता की मनोवृत्ति का पता लगाने भेजा गया था । (प्रगट) भद्र ! स्वागत है, बैठो ।

चर : जैसी आर्य्य की आज्ञा । (भूमि पर बैठता है ।)

चाणक्य : भद्र ! अब बताओ, जिस लिये भेजे गये थे, उसके बारे में क्या संवाद लाये हो ! क्या वृषल* में जनता अनुरक्त है ?

चर : हाँ आर्य्य ! आपने जनता की विरक्ति के सारे कारण मिटा दिये हैं, इसलिये उसे तो चंद्रगुप्त से बहुत स्नेह है, परंतु नगर में राक्षस से बहुत स्नेह करने वाले तीन व्यक्ति हैं, जो चंद्रवैभव को नहीं सह पाते ।

चाणक्य : (क्रोध से) यों कहो कि वे अपने प्राणों का शरीर में रहना नहीं सह पाते । भद्र ! उनके नामों का पता है ?

चर : क्या बिना नाम जाने आपसे कह सकता हूँ ?

चाणक्य : तो कहो !

चर : आर्य्य ! पहले तो वही भिक्षु है जो आपके विपक्ष में है ।

* वृषल—घटिया माने जाने वाले क्षत्रिय को वृषल कहते हैं । चंद्रगुप्त अच्छे ब्राह्मणधर्मी क्षत्रिय कुल का न था, वह उन क्षत्रियों में था जो ब्राह्मणधर्म को प्रमुखता नहीं देते थे । किन्तु प्रस्तुत नाटक में उसे दासी-पुत्र मानने के कारण ऐसा कहा है ।

चाणक्य : (प्रसन्नता से स्वगत) क्षपणक हमारे विरुद्ध है ? (प्रगट)
क्या नाम है उसका ?

चर : जीवसिद्धि ।

चाणक्य : तुमने यह कैसे जाना कि वह हमारे विरुद्ध है ?

चर : इसलिये कि उसने राक्षस-प्रयुक्त विषकन्या पर्वतेश्वर के पास भेज दी ।

चाणक्य : (स्वगत) जीवसिद्धि तो हमारा गुप्तचर है । (प्रगट)
भद्र ! दूसरा कौन है ?

चर : दूसरा अमात्य राक्षस का परम मित्र शकटदास कायस्थ है ।

चाणक्य : (स्वगत हँस कर) कायस्थ तो दुर्बल वस्तु है । परंतु शत्रु कैसा भी छोटा हो, उसे कम नहीं समझना चाहिये । उसके लिये तो मैंने मित्र बना कर सिद्धार्थक को लगा दिया है । (प्रगट) भद्र !
तीसरा कौन है ?

चर : आर्य्य ! तीसरा तो मानो स्वयं दूसरा राक्षस ही है । मणियों का व्यापारी चंदनदास । उसी के घर अपनी स्त्री और बच्चों को राक्षस धरोहर के रूप में रख कर भाग गया है ।

चाणक्य : (स्वगत) अवश्य ही गहरी मित्रता में ही ऐसा हो सकता है । वर्ना क्या परिवार को वहाँ रखता ? (प्रगट) भद्र ! यह तुमने कैसे जाना ?

चर : आर्य्य ! यह अंगूठी (मुद्रा) आपको सब बता देगी ।

[मुद्रा बेंता है ।]

चाणक्य : (मुद्रा देख कर, राक्षस का नाम पढ़ कर, बड़ी प्रसन्नता से स्वगत)
बस ! अब राक्षस मेरे पञ्जे में आ गया । (प्रगट) भद्र ! यह मुद्रा कैसे मिली, पूरी बात कहो ।

चर : आर्य्य ! सुनिये ! जब आपने मुझे नागरिकों की मनोवृत्ति

जानने को भेजा, तो दूसरों के घर जाने से किसी को किसी तरह का संदेह न हो इसलिये मैं इस यमपट को ले कर घूमता हुआ मणिकार श्रेष्ठ चंदनदास के घर में घुसा और वहाँ यमपट फैला कर मैंने गाना शुरू कर दिया ।

चाणक्य : फिर ?

चर : तब लगभग पाँच वर्ष का एक बहुत सुंदर बालक उत्सुकता से, बच्चा ही तो था, पर्दे के पीछे से बाहर निकलने लगा । तब, 'अरे बालक निकल गया', 'बालक निकल गया', पर्दे के पीछे यह घोर कोलाहल मच उठा । तब एक स्त्री ने थोड़ा-सा मुँह निकाल कर अपनी कोमल बाहु से बालक को झिड़क कर पकड़ लिया । उस घबराहट में उस स्त्री के हाथ से यह अंगूठी सरक कर देहली के पास गिर गई, क्योंकि यह तो पुरुष के नाप की ठहरी । स्त्री को बिना पता चले ही यह अंगूठी लुढ़क कर मेरे पास ऐसे रुक गई जैसे नई दुल्हन प्रणाम करके स्थिर हो गई हो । इस पर अमात्य राक्षस का नाम था, सो मैं इसे आर्य्य के चरणों में ले आया । यही है इसके मिलने की कथा ।

चाणक्य : भद्र ! सुन लिया । अब तुम जाओ । इस परिश्रम का फल तुम्हें शीघ्र मिलेगा ।

चर : जैसी आर्य्य की आज्ञा ।

[प्रस्थान]

चाणक्य : शार्ङ्ग रव ! शार्ङ्ग रव !

शिष्य : (प्रविश्य) आज्ञा दें उपाध्याय !

चाणक्य : वत्स ! दावात और लिखने को पत्र लाओ ।

१. पत्र—ताड़ का पत्ता : जिसपर पुराने समय में लिखा जाता था । पर बहुत-से लोग इसे कागज ही मानते हैं । उन दिनों वैसे कागज था ही नहीं ।

शिष्य : जैसी गुरुदेव की आज्ञा । (प्रस्थान करके फिर प्रवेश) गुरुदेव !
यह रही दावात और पत्र ।

चाणक्य : (ले कर स्वगत) क्या लिखू ? इसी पत्र से तो राक्षस को
जीतना है ।

प्रतिहारी : (प्रवेश कर) आर्य्य की जय !

चाणक्य : (सहर्ष स्वगत) जय शब्द ले लूँ । (प्रगट) शोणोत्तरे ! क्यों
आई हो ?

प्रतिहारी : आर्य्य ! अपने कमल-करों से प्रणाम करते हुए देव
चंद्रगुप्त आपसे निवेदन करते हैं कि मैं आपकी आज्ञा
से देव पर्वतेश्वर का श्राद्ध आदि पारलौकिक करना तथा
उनके पहने हुए आभूषणों को गुणवान् ब्राह्मणों को देना
चाहता हूँ ।

चाणक्य : (प्रसन्न हो कर स्वगत) साधु वृषल ! धन्य ! मेरे ही मन
से जैसे सलाह करके तुमने यह संदेश भेजा है । (प्रगट) शोणो-
त्तरे ! मेरी ओर से वृषल से कहना कि—वत्स तुम धन्य हो !
लोक-व्यवहार में तुम बहुत कुशल हो । जो तुमने निश्चय
किया है उसे अवश्य करो । परंतु पर्वतेश्वर के पहने आभूषण
केवल गुणवान् ब्राह्मणों को ही देने चाहियें । मैं ऐसे ब्राह्मणों
को भेजता हूँ जिनके गुणों की परीक्षा हो चुकी है ।

प्रतिहारी : जैसी आर्य्य की आज्ञा ।

[प्रस्थान]

चाणक्य : शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव ! मेरी ओर से विश्वावसु आदि तीनों
भाइयों से कहो कि वे चंद्रगुप्त से आभूषण ले कर मुझसे
मिलें ।

शिष्य : जैसी गुरु-आज्ञा ।

[प्रस्थान]

चाणक्य : (स्वगत) यह जय तो बाद के हिस्से में जँचेगी । पहले क्या लिखूँ ? (सोच कर) समझा । गुप्तचरों ने मुझे बताया है कि म्लेच्छराज की सेना के पाँच प्रधान राजा बड़ी श्रद्धा से राक्षस का साथ दे रहे हैं । वे हैं, कुलूत देश का स्वामी चित्रवर्मा, मलयरज नर श्रेष्ठ सिंहनाद, काश्मीर नरेश पुष्कराक्ष, शत्रु-महिमा विनाशक सिंधुराज सिंधुषेण और पारसोक नृपति मेघाक्ष, जिसके पास बड़ी घुड़सवार सेना है । मैं इनके नाम लिखता हूँ । अब यह ध्रुव सत्य है कि केवल यमराज के प्रधान लेखक चित्रगुप्त ही अपनी सूची से इनका नाम काट दें । (सोच कर) नहीं, अभी नहीं लिखूँगा । इस बात को छिपा ही रहना चाहिये । (प्रगट) शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !

शिष्य : (प्रवेश कर) उपाध्याय ! आज्ञा दें !

चाणक्य : वेद पढ़ने वाले पण्डित चाहे कितनी भी सावधानी से क्यों न लिखें उनके लिखे, अक्षर साफ़ नहीं होते । इसलिये मेरी ओर से सिद्धार्थक से कह (कान में कहता है ।) किसी ने किसी का कुछ लिखा, बस, लिखने वाले का कोई नाम न लिखवाना शकटदास कायस्थ से लिखवा देना और मेरे पास ले आना । य किसी से न कहना कि इसे चाणक्य ने लिखवाया है ।

शिष्य : अच्छी बात है ।

[प्रस्थान]

चाणक्य : (स्वगत) ये लो । मलयकेतु को जीत लिया ।

१. यानी यहीं हमने मौत की सूची में नाम लिख दिया ।

सिद्धार्थक : (लेख हाथ में लिये प्रवेश करके) आर्य्य की जय हो ! आर्य्य !
लीजिये ! यह शकटदास के हाथ से लिखा लेख है ।

चाणक्य : (ले कर देख कर) अरे ! कितने सुंदर अक्षर लिखता है ।
(पढ़ कर) भद्र ! इस पर मुहर लगा कर बंद कर दे ।

सिद्धार्थक : जैसी आर्य्य की आज्ञा । (मुद्रित करके) आर्य्य ! कर दिया ।
अब आज्ञा दें । क्या सेवा करूँ ?

चाणक्य : भद्र ! कोई ऐसा काम तुम्हें देना चाहता हूँ जो स्वयं मेरे
हाथों होने के योग्य है ।

सिद्धार्थक : (सहर्ष) आर्य्य ! कृतकृत्य हुआ । आज्ञा दें, सेवक
प्रस्तुत है ।

चाणक्य : भद्र ! सबसे पहले सूली देने की जगह जा कर वहाँ के
जल्लादों को दाहिनी आँख का इशारा करना । फिर संकेत
समझ कर भय के बहाने से जब वे भाग जायें तब वहाँ से
शकटदास को राक्षस के पास ले जाना । उसके मित्र के प्राण बचाने
के लिये उससे काफ़ी इनाम ले कर कुछ दिन वहीं रहना और
अंत में शत्रुओं के पास रहते हुए यह काम कर डालना (कान में
कहता है ।) समझे ?

सिद्धार्थक : जैसी आज्ञा, आर्य्य !

चाणक्य : शार्ङ्गारव ! शार्ङ्गारव !

शिष्य : (प्रवेश कर) उपाध्याय ! आज्ञा दें ।

चाणक्य : मेरी आज्ञा से कालपाशिक और दण्डपाशिक^१ से कहो कि
वृषल की आज्ञा है कि इस जीवसिद्धि क्षपणक ने राक्षस की
भेजी विषकन्या द्वारा पर्वतेश्वर को मार डाला है । इसलिये इसे
यही दोष लगा कर अपमान पूर्वक नगर से बाहर निकाल दो ।

शिष्य : अच्छा गुरु देव !

[घूमता है]

चाणक्य : ठहर ! वत्स ! ठहर ! इस राक्षस के मित्र शकटदास को भी इसी दोष से सूली दे दी जाये, वह नित्य हमारा विरोध करता है । इसके घर के लोगों को बंदीगृह में डाल दिया जाये ।

शिष्य : जैसी आज्ञा गुरुदेव !

[प्रस्थान]

चाणक्य (चिंता से स्वगत) क्या दुरात्मा राक्षस अब पकड़ में आ जायेगा ?

सिद्धार्थक : आर्य्य पकड़ लिया ।

चाणक्य : (सहर्ष स्वगत) राक्षस को पकड़ा लिया ! (प्रगट) भद्र ! किसे पकड़ लिया !

सिद्धार्थक : मैंने आर्य्य के संदेश के तत्व को पकड़ लिया । अब कार्य्य-सिद्धि के लिये जाता हूँ ।

चाणक्य : (मुहर लगा लेख देकर) भद्र ! सिद्धार्थक ! जाओ ! तुम्हारा कार्य्य सफल हो ।

सिद्धार्थक : जैसी आर्य्य की आज्ञा । (प्रणाम करके प्रस्थान)

शिष्य : (प्रवेश कर) उपाध्याय ! कालपाशिक और दण्डपाशिक ने खबर दी है कि हम महाराज चंद्रगुप्त की आज्ञा का पालन अर्भ करते हैं ।

चाणक्य : सुंदर ! वत्स ! अब मैं मणिकार चंदनदास को देखन चाहता हूँ ।

शिष्य : जैसी गुरु की आज्ञा ।

[प्रस्थान । फिर चंदनदास के साथ प्रवेश]

इधर आइये श्रेष्ठि^१ इधर !

१. श्रेष्ठि—सेठ का पुराना रूप ।

चंदनदास : (स्वगत) निरपराध व्यक्ति भी इस करुणाहीन चाणक्य के बुलाने पर डरता है, फिर मैं तो अपराधी ही ठहरा। मैंने तो तभी धनसेन आदि तीनों व्यापारियों से कह दिया है कि यदि कभी दुष्ट चाणक्य मेरे घर की तलाशी लेने लगे तो स्वामी अमात्य राक्षस के कुटुंब को बुद्धिपूर्वक कहीं छिपा देना। मेरा जो हो वह होता रहेगा।

शिष्य : इधर श्रेष्ठ ! इधर !

चंदनदास : आ रहा हूँ।

[दोनों घूमते हैं।]

शिष्य : उपाध्याय ! ये श्रेष्ठ चंदनदास आ गये हैं।

चंदनदास : (पास आ कर) आर्य्य की जय !

चाणक्य : (अचानक देख कर) श्रेष्ठ ! स्वागत ! इस आसन पर विराजें।

चंदनदास : (प्रणाम कर) क्या आप नहीं जानते आर्य्य ! कि अनुचित आदर अपमान से भी अधिक दुःख देने वाला होता है। मैं तो अपने लिये उचित इस धरती पर ही बैठ जाता हूँ।

चाणक्य : नहीं श्रेष्ठ ! ऐसा नहीं ! तुम्हारे साथ हमारा ऐसा ही व्यवहार उचित है। आसन पर ही बैठें।

चंदनदास : (स्वगत) लगता है इसने मेरे बारे में कुछ जान लिया है। (प्रगट) जो आज्ञा। (बैठता है।)

चाणक्य : श्रेष्ठ चंदनदास ! तुम्हारा व्यापार तो बढ़ रहा है न ?

चंदनदास : (स्वगत) इतना आदर तो मुझे शक्ति कर रहा है। (प्रगट) आर्य्य के प्रसाद से मेरा वाणिज्य अखंड हो रहा है।

चाणक्य : श्रेष्ठ ! क्या कभी चंद्रगुप्त के दोष प्रजा को पहले राजाओं की याद दिलाते हैं ?

चंदनदास : (कानों पर हाथ रख कर) पाप शान्त हो । शरद ऋतु की पूर्णिमा के चंद्र के समान चंद्रगुप्त की श्रो से सबही अत्यंत संतुष्ट हैं ।

चाणक्य : चंदनदास ! यदि इतनी प्रीति है तो राजा भी अपनी प्रजा से कुछ प्रिय चाहते हैं ।

चंदनदास : आज्ञा दें आर्य्य ! हमसे कितना धन चाहते हैं ?

चाणक्य : श्रेष्ठ ! यह चंद्रगुप्त का राज्य है, नंदराज्य नहीं है, क्योंकि नंद की तो धनलोभ से ही वृप्ति हो जाती थी, परंतु चंद्रगुप्त तभी प्रसन्न होते हैं जब आप लोग सुखी रहते हैं ।

चंदनदास : (सहर्ष) अनुगृहीत हूँ आर्य्य !

चाणक्य : श्रेष्ठ ! आपने मुझसे यह नहीं पूछा कि वह क्लेश कैसे दूर हो सकता है !

चंदनदास : आर्य्य ही आज्ञा दें ।

चाणक्य : संक्षेप में यही है कि प्रजा को राजा के प्रति विरोधपूर्ण व्यवहार नहीं करना चाहिये ।

चंदनदास : आर्य्य ! आप ऐसा किस अभागे के बारे में कह रहे हैं ?

चाणक्य : सबसे पहले आपसे ही ।

चंदनदास : (कानों पर हाथ रख कर) पाप शान्त हो, पाप शान्त हो ।
तिनके और आग का विरोध करें ?

चाणक्य : ऐसा विरोध कि आज भी तुम राजद्रोही अमात्य राक्षस के कुटुंब को अपने घर में छिपाये हुए हो ।

चंदनदास : यह बिल्कुल असत्य है आर्य्य ! किसी अनार्य्य^१ ने आपसे ऐसा कहा है ।

१. झूठा—जबार—जो श्रेष्ठ नहीं है ।

चाणक्य : श्रेष्ठ ! डरो मत ! डरे हुए पुराने राजपुरुष अपने परिवार को अपने पुराने मित्र नगरवासियों के घर छोड़ जाया करते हैं, चाहे वे नगरवासी भले ही इसे नहीं चाहते हों । लेकिन जानते हो उन्हें छिपा कर रखने से अंत में हानि होती है !

चंदनदास : बात यह है कि पहले तो मेरे घर में अमात्य राक्षस का परिवार था ।

चाणक्य : पहले तो तुमने मेरी बात को भूँठ कहा और अब कहते हो पहले था । क्या यह दोनों बातें परस्पर विरोधी नहीं हैं ?

चंदनदास : यही, मेरे शब्दों का दोष ही है ये तो ।

चाणक्य : श्रेष्ठ ! चंद्रगुप्त के राज्य में छल के लिये स्थान नहीं है । राक्षस के परिवार को हमारे हवाले करो और निर्दोष हो जाओ ।

चंदनदास : आर्य्य ! मैं कहता तो हूँ कि पहले अमात्य राक्षस का कुटुंब मेरे घर पर था ।

चाणक्य : तो अब कहाँ है ?

चंदनदास : यह तो पता नहीं कि कहाँ चला गया ।

चाणक्य : (मुस्करा कर) पता क्यों नहीं है ? श्रेष्ठ ! साँप सिर पर है, उससे बचने का उपाय बहुत दूर है । और जैसे नंद को विष्णुगुप्त ने.....

[इतना कह कर कुछ संकोच से लज्जित-सा चुप रह जाता है ।]

चंदनदास : (स्वगत) ऊपर मेघों का भीषण गर्जन हो रहा है । प्रिया दूर है । दिव्य औषधियाँ तो हिमालय पर हैं और यहाँ सर्प सिर पर डोल रहा है ।

चाणक्य : अमात्य राक्षस चंद्रगुप्त को जड़ से उखाड़ देगा, यह मत समझो । देखो ! जिस चंचला राजलक्ष्मी को नंद के जीवित

रहने पर नीतिज्ञों में श्रेष्ठ अमात्य श्रेष्ठ वक्रनास भी स्थिर नहीं कर सके, उसी उज्ज्वला, लोकहर्ष दायिनी और निश्चला राजलक्ष्मी को इस चंद्रगुप्त जैसे चंद्रमा से चाँदनी की तरह कौन अलग कर सकता है ! किसमें साहस है कि सिंह के मुख में लगा मांस चोंच डाल कर बाहर खींच ले ?

चंदनदास : (स्वगत) तुमने जो कहा सो किया, तभी यह आत्म-प्रशंसा भी अच्छी लगती है ।

[नेपथ्य में कोलाहल]

चाणक्य : शाङ्गरव ! यह कैसा कोलाहल हो रहा है ?

शिष्य : जैसी आचार्य्य की आज्ञा । (प्रस्थान, फिर प्रवेश करके) आचार्य्य ! महाराज चंद्रगुप्त की आज्ञा से राजविरोधी जीवसिद्धि क्षपणक अपमान करके नगर से निकाला जा रहा है ।

चाणक्य : क्षपणक ! ह-ह-ह ! राजद्रोह का फल कौन नहीं पायेगा ? श्रेष्ठि चंदनदास ! राजा विरोधियों के प्रति बहुत कठोर है । इसीलिये मेरी अच्छी बात को मान कर राक्षस के परिवार को समर्पित करके बहुत दिनों तक महलों के वैभव और सुख को भोगो ।

चंदनदास : मेरे घर राक्षस का परिवार नहीं है ।

[नेपथ्य में फिर कोलाहल]

चाणक्य : शाङ्गरव ! अब यह कोलाहल क्यों हुआ ?

शिष्य : जैसी उपाध्याय की आज्ञा । (घूम कर लौटता है) उपाध्याय ! यह राजा का विरोधी शकटदास कायस्थ है, जिसे राजाज्ञा से सूली पर चढ़ाने को ले जाया जा रहा है ।

चाणक्य : अपने कर्म का फल भोगे । श्रेष्ठि चंदनदास ! यह राजा विरोधियों को बहुत कड़ा दण्ड देता है । वह आपके इस अप-

राध को क्षमा नहीं करेगा कि आपने राक्षस के परिवार को छिपाया। दूसरे की स्त्री-पुत्र देकर अपनी और अपने घर वालों की जान बचाओ।

चंदनदास : आर्य्य ! क्या आप मुझे डराते हैं ? यदि राक्षस का परिवार मेरे घर में होता तब भी मैं नहीं देता, तो है ही नहीं फिर दूँ भी कहाँ से ?

चाणक्य : चन्दनदास ! क्या यही तुम्हारा निश्चय है ?

चंदनदास : निश्चय ! यही मेरा स्थिर निश्चय है।

चाणक्य : (स्वगत) साधु चन्दनदास ! साधु ! दूसरे को सब कुछ समर्पण करके धन-प्राप्ति की इच्छा ही देखी जाये तो तुम्हारे जैसा दुष्कर कार्य्य राजा शिवि के अलावा और कौन कर सकता है ? (प्रगट) चंदनदास ! यही तुम्हारा निश्चय है ?

चंदनदास : जी हाँ।

चाणक्य : (क्रोध से) दुरात्मा दुष्ट वणिक ! तो राजा के क्रोध को भोगो !

चंदनदास : (हाथ फैला कर) तत्पर हूँ। आर्य्य अपने अधिकार के अनुसार कार्य्य करें।

चाणक्य : (क्रोध से) शाङ्गरव ! मेरी आज्ञा से कालपाशिक और दण्डपाशिक से कहो कि वे इस दुरात्मा श्रेष्ठि को शीघ्र ही पकड़ लें। नहीं ! ठहरो ! दुर्गपाल और विजयपाल को आज्ञा दो कि वे इसके धन पर अधिकार कर लें। जब तक मैं वृषल से नहीं कहता तब तक इसके स्त्री-पुत्रों को पकड़ कर बंदीगृह में रखें। राजा ही इसको प्राण दंड देगा।

शिष्य : जैसी उपाध्याय की आज्ञा। श्रेष्ठि ! इधर आइये ! इधर !

चंदनदास : (उठ कर) आर्य्य ! आता हूँ। (स्वगत) मित्र के कार्य्य

से मेरा विनाश हो रहा है, अपने किसी और दोष के कारण नहीं ।

[घूम कर शिष्य के साथ प्रस्थान]

चाणक्य : (सहर्ष) अहा ! अब राक्षस पकड़ा गया । जैसे यह उसकी मुसीबत में अपने जीवन को बिना मोह किये त्यागे दे रहा है, वैसे ही इसकी विपत्ति में राक्षस को भी अपने प्राणों की ममता नहीं होगी ।

[नेपथ्य में कोलाहल]

चाणक्य : शार्ङ्गारव !

शिष्य : (प्रवेश कर) आज्ञा दें उपाध्याय !

चाणक्य : यह कैसा शोर है ?

शिष्य : (प्रस्थान कर, फिर घबराया-सा प्रवेश करके) उपाध्याय ! बध्यस्थान में बँधे हुए शकटदास को लेकर सिद्धार्थक भाग गया ।

चाणक्य : (स्वगत) धन्य सिद्धार्थक ! तुमने अपना काम खूब किया ! (प्रगट) क्या कहा ? जबरदस्ती उसे ले भागा ! (क्रोध से) वत्स ! भागुरायण से कहो कि वह उसे शीघ्र पकड़े !

शिष्य : (फिर बाहर जा कर सस्वेद लौट कर) उपाध्याय ! दुःख है कि भागुरायण भी भाग गया ।

चाणक्य : (स्वगत) कार्यसिद्धि के लिये जाये । (प्रगट, सक्रोध) वत्स ! दुःख मत कर ! मेरी आज्ञा से भद्रभट, पुरुषदत्त, हिंगुरात, बलगुप्त, राजसेन, रोहिताक्ष, विजय वर्मा आदि से कहो कि वे शीघ्र ही दुरात्मा भागुरायण को पकड़े !

शिष्य : जैसी उपाध्याय की आज्ञा । (बाहर जा कर फिर दुःख से भरा प्रवेश करके) उपाध्याय ! बहुत बुरी खबर है । सारी प्रजा व्याकुल

है । भद्रभट आदि भी आज प्रातःकाल ही भाग गये ।

चरणव्य : (स्वगत) सबका मार्ग मंगलमय हो । (प्रगट) वत्स ! दुःख न कर । देख ! जो कुछ भी सोच कर चले गये हैं, वे तो गये ही । जो यहाँ हैं वे भी निस्संशय भले ही चले जायें, लेकिन सब कामों को साधने में अनेक सेनाओं से भी अधिक शक्ति रखने वाली और अपनी महिमा से नन्दों का विनाश करने वाली मेरी बुद्धि मुझे न छोड़ जाय । (उठ कर आकाश में प्रत्यक्ष की भाँति देख कर) अब इन दुरात्मा भद्रभट आदि को पकड़ता हूँ । (स्वगत) दुरात्मा राक्षस ! अब कहाँ बचेगा ? मैं बहुत शीघ्र ही तुझे घेर लूँगा । मस्त और अकेले घूमने वाले, अत्यन्त दानी और बहुत बड़ी सेना ले कर मेरा नाश करने की इच्छा कर रहा है तू राक्षस ! लेकिन देख लेना । जैसे भुण्ड से अलग अकेले भटकते हुए तालाबों को मथ देने वाले मदमस्त हाथी को बाँध दिया जाता है, वैसे ही अपनी बुद्धि की रस्सी से बाँध कर मैं तुझे चंद्रगुप्त के लिये अपने वश में करूँगा ।

[प्रस्थान]

[पहला अंक समाप्त]

दूसरा अंक

[एक सँपेरे का प्रवेश]

सँपेरा : जो विष की औषधि का प्रयोग, मण्डल बनाना और मन्त्रों को जानता है, वह ही राजा और साँपों की सेवा कर सकता है ! (आकाश देख कर) आर्य्य ! क्या पूछा ? तुम कौन हो ? आर्य्य ! मैं जीर्ण विष नाम का सँपेरा हूँ । (फिर ऊपर देख कर) क्या कहा ? मैं भी साँप से खेलना चाहता हूँ ? आर्य्य ! बताइये ! आप क्या काम करते हैं ? क्या कहा ? राजवंश के सेवक हैं ? तब तो सदा ही साँपों से खेलते रहते होंगे ! पूछते हैं—कैसे ! अरे बिना दवाई जानने वाला सँपेरा, अंकुश लिये बिना मदमस्त हाथी पर चढ़ने वाला सवार और अहंकारी राजा का सेवक, इन तीनों का तो अवश्य ही नाश हो जाता है । अरे ! चले भी गये ! बस देख कर ही ? (फिर आकाश देख कर) आर्य्य ! क्या पूछते हैं आप फिर कि इन पिटारियों में क्या है ? आर्य्य मेरी जीविका के साधन साँप हैं इनमें । (ऊपर देख कर) क्यों कहते हैं ऐसा ! देखेंगे ? अप्रसन्न न हों । आपका यों देखना उचित तो नहीं, पर ऐसा ही कौतूहल है तो आइये । इस घर में दिखा दूँ ! (अधिकांश देख कर) क्या कहते हैं ? कि यह अमात्य राक्षस का घर

है ? यहाँ हम जैसे लोग नहीं घुस सकते ? तो फिर आप जाइये ! इस कारण तो मैं यहाँ जा ही नहीं सकता । अरे ! यह भी गया !

[चारों ओर देख कर (अब संस्कृत* में)]

(स्वगत) अरे ! आश्चर्य है ! चाणक्य की नीति के सहारे खड़े चंद्रगुप्त को देखते हुए तो राक्षस की सब चेष्टाएँ बेकार-सी लगती हैं । और राक्षस की बुद्धि के सहारे काम करने वाले मलयकेतु को देख कर ऐसा लगता है कि चन्द्रगुप्त राज्य से हट जायेगा, मैं तो मौर्यकुल की लक्ष्मी को चाणक्य की बुद्धि की रस्सी से बँधा हुआ देख कर स्थिर मानता हूँ । पर यह भी देख रहा हूँ कि राक्षस की नीति के हाथ उसे खींच भी रहे हैं । नंद वंश की राज्य-श्री इन दोनों नीति-धुरंधर मंत्रियों के भगड़े के कारण बड़ी संदिग्ध-सी अवस्था में पड़ी हुई लगती है । जैसे अत्यंत भयानक वन में दो हाथियों की लड़ाई के समय हथिनी बीच में पड़ी अत्यंत भयभीत हो जाती है, वैसे ही इन दो मंत्रियों के बीच में राज्यलक्ष्मी आकर खिन्न हो रही है । मैं अब अमात्य राक्षस के दर्शन करूँ ।

[इधर-उधर घूम कर खड़ा होता है ।]

[अंकावतार समाप्त]

* मूल में पहले वह जनभाषा में बोलता है अब संस्कृत में शुरू करता है ।

[अपने घर में आसन पर बैठे सचिव राक्षस का प्रवेश । सामन

अनुचर है । राक्षस चिंता से भरा है ।]

राक्षस : (आँसू भरे नयनों से ऊपर देख कर) हाय ! कितना कष्ट है ।

नीति, विक्रम आदि गुणों के कारण जो समृद्ध नंदवंश शत्रु रहित था, उसका निर्दयी भाग्य के हाथों वृष्णि यादवों की भाँति सर्वनाश हो गया । कैसे फिर सब लौट सकेगा, यही रात-दिन सोचते हुए जागते ही बीतते हैं, पर मेरी नीति और प्रयत्न निराधार-से लग रहे हैं । दूसरे का दास बना जो मैं नीति का प्रयोग कर रहा हूँ, यह न तो स्वामी के प्रति भक्ति को भुलाने को, न अपनी अज्ञता के लिये । नहीं, यह मेरे प्राणों का भय भी नहीं, न मेरी यश की लिप्सा ही है । मैं सब कुछ केवल इसलिये करता हूँ कि स्वर्गीय नंद की आत्मा अपने शत्रु के वध से प्रसन्न हो जाये । (आकाश को साश्रु देख कर) भगवती लक्ष्मी ! तुम गुण नहीं देखती ! चंचले ! आनंद के कारण राजा नंद को छोड़ कर तू शत्रु मौर्य पुत्र पर क्यों अनुरक्त हो गई ? जैसे मस्त हाथी के मरने पर उसके मद की धारा भी सूख जाती है, तू भी राजा नंद के साथ ही विनष्ट क्यों नहीं हो गई ? ओ नीच कुले ! पापिनी ! क्या श्रेष्ठ कुल वाले राजा पृथ्वी से उठ गये जो तूने इस कुल हीन को चुन लिया है ? काँस के रोओं-सी चंचल होती है स्त्रियों की बुद्धि, तभी वह पुरुषों के गुण जानने से विमुख रहती है ! अरी अविनीते ! मैं तेरे इस आश्रय को नष्ट करके तेरे भी मनोरथों को असफल कर दूँगा । (सोच कर) नगर से भागते समय मैंने अच्छा किया कि अपना परिवार अपने सुहृद मित्र श्रेष्ठ चंदनदास के घर छोड़ दिया । क्योंकि राक्षस उद्योग हीन नहीं है और कुसुमपुर में रहने वाले

राजा नंद के पुराने सेवकों से संबंध बना रहेगा तो हमारा उत्साह भी शिथिल नहीं होगा। चंद्रगुप्त को जला डालने को मैंने अनेक विषैले पदार्थ आदि शकटदास को दे कर उसे शत्रु-विनाश करने को नियुक्त किया था ! हर क्षण की सूचना भेजने को जीवसिद्धि क्षपणक इत्यादि को काम में लगाया था। इतने प्रिय पुत्रों वाले नंद जिसे पाल-पोस कर व्याघ्र के बच्चे की तरह छोड़ गये हैं, यदि मेरी उन्नति को न चाहने वाला भाग्य ही विरुद्ध हो जाये, तो और बात है कि स्वयं उसकी रक्षा करे, अन्यथा मैं उसके अंगों को अपनी बुद्धि के बाणों से बेध दूँगा।

[तब कञ्चुकी का प्रवेश]

कञ्चुकी : अपनी नीति से जैसे चंद्रगुप्त मौर्य से नंद का दमन करवा कर चाणक्य ने उसे अधिपति बना दिया, वैसे ही बुढ़ापे ने काम वासना नष्ट करके मुझमें धर्म को स्थापित किया है। अब मलयकेतु आदि की सहायता से उठे हुए राक्षस की भाँति लोभ उन्नतिशील चंद्रगुप्त जैसे धर्म को फिर जीतना चाहता है। किंतु अब वह जीत नहीं सकेगा। (देख कर) अरे यह तो अमात्य राक्षस हैं। (एक चक्कर-सा लगा कर पास जा कर) यह रहा अमात्य राक्षस का घर। प्रवेश करूँ। (प्रवेश करके देख कर) अमात्य ! आपका मंगल हो।

राक्षस : अभिवादन करता हूँ आर्य्य जाजलि ! प्रियंवदक ! आपके लिये आसन लाओ !

पुरुष : लीजिये आसन। विराजें आर्य्य !

कञ्चुकी : (बैठ कर) अमात्य ! कुमार मलयकेतु ने निवेदन किया है कि बहुत दिनों से आपने अपने शरीर का शृंगार करना छोड़ दिया है, इससे मेरा हृदय बहुत दुखी है। मैं मानता हूँ कि

स्वामी के सद्गुण भुलाये नहीं जा सकते, फिर भी आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें। (आभूषण निकाल कर दिखा कर) अमात्य ! ये आभूषण कुमार ने अपने शरीर से उतार कर भेजे हैं। आप इन्हें पहन लें।

राक्षस : आर्य्य जाजलि ! मेरी ओर से कुमार से कहना कि मैंने उनके महान गुणों के कारण स्वामी के गुण भुला दिये हैं। और कहना कि हे श्रेष्ठ राजा ! जब तक शत्रु विनाशक आपका यह सुवर्ण सिंहासन सुगाङ्ग प्रासाद तक नहीं पहुँचा दूँगा तब तक पराक्रमहीन, शत्रुओं से पराजित, उनका तिरस्कार सहने वाले अपने इन अंगों को तनिक भी नहीं सजाऊँगा।

कञ्चुकी : यह सत्य है अमात्य कि आप जैसे नेता के रहते हुए कुमार विजयी होंगे। लेकिन यह उनके प्रेम का पहला व्यवहार है, इसे अवश्य स्वीकार करें।

राक्षस : आर्य्य आपकी बात भी कुमार की ही भाँति टाली नहीं जा सकती। अच्छी बात है, मैं उनकी आज्ञा मानता हूँ।

कञ्चुकी : (आभूषण पहनाता है।) आपका मंगल हो। अब मैं चलूँ।

राक्षस : आर्य्य ! अभिवादन स्वीकार करें।

[कञ्चुकी का प्रस्थान]

राक्षस : प्रियंवदक ! इस समय मुझसे मिलने द्वार पर कौन खड़ा है ?

प्रियंवदक : जैसी आर्य्य की आज्ञा। (घूम कर सँपेरे को देख कर) आर्य्य आप कौन हैं ?

सँपेरा : भद्र ! मैं जीर्णविष नामक सँपेरा हूँ। अमात्य राक्षस को साँपों का खेल दिखाना चाहता हूँ।

प्रियंवदक : जरा ठहरो। मैं उनसे पूछता हूँ। (राक्षस के पास जा कर) एक सँपेरा आपको खेल दिखाना चाहता है।

राक्षस : (बाईं ग्रांख फड़कने का अभिनय करके, स्वगत) सबसे पहले साँप ही का दर्शन ! (प्रगट) प्रियंवदक ! अभी मुझे साँप का खेल देखने की इच्छा नहीं है । इसे तुम कुछ दे कर चलता करो ।

प्रियंवदक : जैसी आर्य्य की आज्ञा । (घूम कर सँपेरे के पास आ कर) भद्र ! अमात्य तुम्हारा खेल बिना देखे ही प्रसन्न हो गये हैं, अब वे फिर नहीं देखना चाहते ।

सँपेरा : भद्र ! तो मेरी ओर से उनसे कहिये कि मैं केवल सँपेरा ही नहीं, एक जन्म जात कवि भी हूँ । यदि आप मुझे दर्शन नहीं करने दे सकते तो मेरे इस पत्र को पढ़ कर ही प्रसन्न हों ।

[पत्र देता है ।]

प्रियंवदक : (पत्र ले कर राक्षस के पास जा कर) अमात्य ! वह सँपेरा कहता है कि मैं सँपेरा ही नहीं, कवि भी हूँ । आप मुझे न बुलायें, पर मेरी कविता पढ़ कर प्रसन्न हों ।

राक्षस : (पत्र ले कर पढ़ता है—)

निज कौशल से भ्रमर कुसुम से
मधु निकालता है पी कर
उस मधु से अन्यो के होते
कार्य्यसिद्ध इस धरती पर !

राक्षस : (स्वगत) इसका अर्थ तो यह है कि मैं कुसुमपुर की खबर लाने वाला आपका गुप्तचर हूँ । कार्य्य इतना अधिक है, गुप्तचर भी अनेक हैं । भूल-भूल जाता हूँ । अरे हाँ, याद आया । यह सँपेरा बना हुआ तो कुसुमपुर से विराधगुप्त आया होगा । (प्रगट) प्रियंवदक ! यह तो सुकवि है, इसे भीतर ले आ । इसका सुभाषित और सुनेंगे ।

प्रियंवदक : जैसी आर्य्य की आज्ञा । (संपेरे के पास जा कर) आइये आर्य्य !

संपेरा : (भीतर जा कर संस्कृत में स्वगत) अरे वह बैठे अमात्य राक्षस ! इन्हीं की नीति-निपुणता और उद्योगों से राज्यलक्ष्मी अभी तक घबरा रही है । उसने अपने बाँये कर-कमल को चंद्रगुप्त मौर्य्य के गले में डाल तो दिया है, पर अभी मुख मोड़ रही है और दाँये हाथ के कंधे से फिसल जाने के कारण अभी तक भयभीत-सी उससे गाढ़ा आलिंगन नहीं कर पा रही है । (प्रगट) जय ! अमात्य की जय !

राक्षस : (देख कर) अरे विराध ! (इतना कहते ही याद आ जाने पर) प्रियंवदक ! मैं इनके साँपों को देख कर मन बहलाता हूँ । तुम घर के लोगों को विश्राम कराओ और अपने स्थान पर जाओ ।

प्रियंवदक : जैसी आर्य्य की आज्ञा ।

[परिवार सहित प्रस्थान]

राक्षस : मित्र ! विराधगुप्त ! लो इस आसन पर बैठो ।

विराधगुप्त : जैसी अमात्य की आज्ञा । (बैठता है ।)

राक्षस : (दुःख से देख कर) देवपाद-पद्मों की सेवा करने वालों का यह हाल है ? (रोने लगता है ।)

विराधगुप्त : अमात्य ! शोक न करें । आप जल्दी ही हमें पुरानी अवस्था पर फिर पहुँचा देंगे !

राक्षस : सखे ! विराधगुप्त ! मुझे सुनाओ, कुसुमपुर की बात कहो ।

विराधगुप्त : अमात्य ! वहाँ की तो लम्बी कथा है । आप आज्ञा दें, कहाँ से शुरू करूँ ?

राक्षस : मित्र ! चंद्रगुप्त के नगर-प्रवेश के समय से । यह जानना चाहता हूँ कि हमने जो विष आदि देने वाले मनुष्य नियुक्त

किये थे, उन्होंने क्या किया ?

विराधगुप्त : सुनिये ! कुसुमपुर को चाणक्य के पक्षपातियों तथा प्रलय के उत्ताल समुद्रों की तरह शक, यवन, किरात, काम्बोज, पारसीक और वाल्हीक आदि के निवासियों ने घेर रखा है ।

राक्षस : (घबराहट के साथ शस्त्र खींच कर) कौन मेरे रहते हुए कुसुमपुर को घेर सकता है ? प्रवीरक ! प्रवीरक ! धनुर्द्वारों को प्राचीरों पर हर ओर खड़ा करो, शत्रु के हाथियों को कुचल देने वाले अपने हाथियों को द्वार पर खड़ा कर दो । मरने और जीने की चिंता छोड़ कर शत्रु-विनाश करने के इच्छुक पुण्य-कीर्ति चाहने वाले मेरे साथ बाहर निकलें ।

विराधगुप्त : आवेश को छोड़िये अमात्य ! मैं तो केवल वर्णन कर रहा हूँ ।

राक्षस : (सांस भर कर) हाय ! केवल समाचार है । यही तो दुःख है । मैंने तो समझा था कि बस वही समय है । (शस्त्र रख कर आंसू भरे नयनों से) हा राजा नन्द ! ऐसे समय पर आपकी राक्षस के प्रति जो प्रीति थी वह याद आती है । हे राजा नन्द ! जहाँ नीले मेघों की तरह हाथियों की सेना चलती है, वहाँ राक्षस जाय ! इन अत्यंत चपल जल की-सी तीव्र गामी तुरंगों की सेना को राक्षस रोके ! मेरी आज्ञा से राक्षस पैदलों को नष्ट कर दे—ऐसी अनेक आज्ञा दे कर अत्यंत स्नेह के कारण आप मुझे हज़ारों रूपों में देखते थे । हाँ विराधगुप्त ! फिर ?

विराधगुप्त : तब चारों तरफ़ से कुसुमपुर के घिर जाने पर और नगरवासियों पर घोर अत्याचार होता देख कर, सुरंग के रास्ते से पुरवासियों की सहायता से महाराज स्वार्थसिद्धि को तपोवन भेज

दिया गया । स्वामी के चले जाने से सैनिक निरुद्योग हो गये । उन्होंने कुछ दिन के लिये जयजयकार रोक दिया । प्रजा के मन को देख कर जब आप नंदराज्य लौटा लाने की इच्छा से भाग आये, तब चंद्रगुप्त का वध करने को भेजी गई विषकन्या... जब पर्वतेश्वर मारे गये.....

राक्षस : सखे ! देखो कैसा आश्चर्य है ! जैसे राधा के पुत्र कर्ण ने अर्जुन का वध करने को शक्ति छोड़ी थी, वैसे हा मैंने भी चंद्रगुप्त को मारने को विषकन्या भेजी थी । लेकिन विष्णु की भाँति विष्णुगुप्त चाणक्य का कल्याण करने के लिये जैसे भगवान के वध्य घटोत्कच का उस शक्ति से वध हो गया था, वैसे ही मेरी भेजी हुए विषकन्या से पर्वतेश्वर की मृत्यु हो गई ।

विराधगुप्त : अमात्य ! यह तो दैव का स्वेच्छाचार है । और किया क्या जाये ?

राक्षस : अच्छा फिर ?

विराधगुप्त : तब पिता के वध के भय से कुमार मलयकेतु कुसुमपुर से चले आये और पर्वतक के भाई वैरोचक को विश्वास दिलाया गया । चंद्रगुप्त ने नंद-भवन में प्रवेश की घोषणा कर दी । उस समय दुरात्मा चाणक्य ने कुसुमपुर के प्रबंधकों को बुलाया और कहा कि ज्योतिषियों के अनुसार आज ही आधी रात को चंद्रगुप्त नंदभवन में प्रवेश करेंगे अतः पहले ही द्वार से भवन को सजाना शुरू कर दे । उस समय सूत्रधारों ने कहा कि महाराज चंद्रगुप्त भवन में प्रवेश करेंगे यह पहले ही से समझकर शिल्पकार दारुवर्मा ने सोने के बदनवार आदि लगाकर राज-भवन के द्वार को सजा दिया है । अब भीतर की सजावट बाकी है । तब चाणक्य ने सन्तुष्ट हो कर इसका अभिनंदन किया कि

दारुवर्मा ने बिना कहे ही महल सजा दिया है और कहा कि दारुवर्मा ! तुम अपनी कुशलता का शीघ्र ही फल पाओगे ।

राक्षस : (उद्वेग से) सखे ! चाणक्य को संतोष कैसे हो गया ? मैं तो समझता हूँ दारुवर्मा ने गलती की । उसकी बुद्धि मोह से भर गई । इतना अधिक राजप्रेम हो गया कि उसने आज्ञा की भी प्रतीक्षा नहीं की ? इससे तो चाणक्य के मन में पूरा संदेह हो गया होगा । हाँ, फिर क्या हुआ ?

विराधगुप्त : तब ब्राह्मण चाणक्य ने उचित लग्नानुसार आधी रात को चंद्रगुप्त का भवन-प्रवेश निश्चित करके सब सेवकों और पुरवासियों को यह जता दिया । पर्वतेश्वर के भाई वैरोचक को चंद्रगुप्त के साथ सिंहासन पर बिठा कर आधी पृथ्वी के आधे राज्य का अधिकारी बना दिया ।

राक्षस : तो क्या उसने प्रतिज्ञा-निर्वाह किया ?

विराधगुप्त : हाँ । बिल्कुल !

राक्षस : (स्वगत) निश्चय ही उस अत्यंत धूर्त ब्राह्मण ने पर्वतेश्वर-वध का कलंक मिटाने और प्रजा का विश्वास प्राप्त करने को यह चाल चली है । (प्रगट) हाँ फिर ?

विराधगुप्त : फिर आधी रात को चंद्रगुप्त भवन-प्रवेश करेगा, यह सब मैं प्रसिद्ध करके, वैरोचक का राज्याभिषेक कर देने पर, वैरोचक को सुन्दर मोतियों की लड़ियों से गुँथे वस्त्र पहनाये गये, उसे रत्नजटित मुकुट धारण कराया गया, भीनी-भीनी गंध वाली मालाओं के कारण उसका वक्षस्थल ऐसा प्रशस्त लगने लगा कि परिचित लोग भी वैरोचक को पहचानने में भूल कर बैठे । चाणक्य की आज्ञा से उसे चंद्रगुप्त की चंद्रलेखा नामक हथिनी पर, चंद्रगुप्त के सेवकों के साथ तेज़ी से देवनंद

के भवन की ओर, प्रवेश करने भेजा गया । सूत्रधार दारुवर्मा ने उसे ही चंद्रगुप्त समझ कर वैरोचक पर गिराने के लिये द्वार पर लगे यन्त्र को ठीक कर लिया । अनुयायी बाहर ही रुक गये । उस समय चंद्रगुप्त के महावत बर्बरक ने जिसे आपने वहाँ नियुक्त किया था, सोने की जंजीर वाली सोने को यष्टि को इस इच्छा से पकड़ लिया कि वह छिपी हुई तलवार को सोने की म्यान से बाहर खींच सके !

राक्षस : दोनों ने ही गलत जगह पर काम किया । फिर ?

विराधगुप्त : हथिनी के जब जाँघ में चोट लगी तो वह दूसरी तरफ भागने को हुई । एकदम जो जंजीर खींची तो द्वार गिर पड़ा और बर्बरक का निशाना भी चूक गया । वह गिरे द्वार से टकरा के मर गया । उधर दारुवर्मा ने द्वार गिर जाने से अपनी मौत निश्चित समझ कर, जल्दी ही ऊपरी हिस्से पर चढ़कर लोहे की कील को यन्त्र में घुमाकर द्वार को पूरा गिरा दिया जिससे हथिनी पर बैठा हुआ वैरोचक मर गया ।

राक्षस : हाय रे कष्ट ! दोनों अनिष्ट एक साथ हो गये ! चंद्रगुप्त तो बच गया । वैरोचक, और बर्बरक दोनों मर गये ! (आवेग से स्वगत) वे दोनों नहीं बचे । दैव ने हमें मारा है (प्रगट) सूत्रधार दारुवर्मा अब कहाँ है ?

विराधगुप्त : वैरोचक के अनुयायियों ने उसे पत्थर मार-मारकर मार डाला ।

राक्षस : (आँखों में आँसू भर कर) अति दारुण ! आज हम परममित्र दारुवर्मा से भी बिछुड़ गये ! तब जो मैंने नियुक्त किया था उस वैद्य अभयदत्त ने क्या किया ?

विराधगुप्त : सब कुछ अमात्य !

राक्षस : (प्रसन्नता से) मारा गया दुरात्मा चंद्रगुप्त !

विराधगुप्त : नहीं अमात्य ! दुर्भाग्य से बच गया ।

राक्षस : (दुःख से) फिर इतने संतुष्ट-से क्या कहते हो कि सब कुछ किया ।

विराधगुप्त : अमात्य ! उसने चंद्रगुप्त के लिये एक चूर्ण बनाया ।

चाणक्य ने सोने के पात्र में रख कर उसकी परीक्षा की । उसका रंग बदल गया । तब उसने चंद्रगुप्त से कहा : “वृषल ! यह विषैलो औषधि है, मत लेना ।”

राक्षस : वह बड़ा दुष्ट ब्राह्मण है । अब वह वैद्य कहाँ है ?

विराधगुप्त : उसे वही दवा पिला दी गई और वह मार डाला गया ।

राक्षस : (दुःख से) हाय ! एक महान वैज्ञानिक उठ गया ! भद्र ! चंद्रगुप्त के सोने के प्रकोष्ठ में अधिकारी प्रमोदक को रखा था न ? उसका क्या हुआ ?

विराधगुप्त : विनाश ।

राक्षस : (उद्वेग से) वह कैसे ?

विराधगुप्त : उस मूर्ख को जो आपने धन दिया था, वह उसने बुरी तरह खर्च करना शुरू कर दिया । चाणक्य ने पूछा कि तुम्हारे पास इतना धन कहाँ से आया ? उल्टे-सीधे जवाब दे गया । पकड़ा गया, तब उसे चाणक्य की आज्ञा से बड़ी ही यातनाएँ दे कर मार डाला गया ।

राक्षस : (घबरा कर) हाय दुर्भाग्य से हम यहाँ भी मारे गये ? अच्छा वह जो राजा के महल में नीचे की सुरंग में सोते हुए चंद्रगुप्त पर हमला करने को वीभत्सक आदि को नियुक्त किया था, उनका क्या हुआ ?

विराधगुप्त : अमात्य ! उनका समाचार बड़ा डरावना है ।

राक्षस : (आवेश से) क्या भयानक बात है ? क्या चाणक्य को उनका पता चल गया ?

विराधगुप्त : जी हाँ ।

राक्षस : कैसे ?

विराधगुप्त : चंद्रगुप्त के पहले ही चाणक्य ने शयन-कक्ष में प्रवेश करते ही चारों ओर देखा । वहाँ दीवारों के छेद में से मुँह में भात के टुकड़े लिये चीटियाँ निकल रही थीं । इसके नीचे पका चावल है तो अवश्य आदमी होंगे, यह सोच कर चाणक्य ने उस कक्ष को ही जलवा दिया । तब धूँआँ घुट गया और पहले से ही दरवाजे आदि बंद किये बैठे वीभत्सक आदि मारे गये ।

राक्षस : (आँसू भरे नयनों से) मित्र ! देखो । चंद्रगुप्त के भाग्य की प्रबलता से हमारे सब आदमी मारे गये । (सोच कर, चिंता से) मित्र ! दुरात्मा चंद्रगुप्त का भाग्य ऐसा प्रबल है ? जो विष-कन्या मैंने उसे मारने भेजी थी, वही दैवयोग से पर्वतेश्वर की मृत्यु का कारण हो गई, जो आधे राज्य का भागी था । जिनको विष आदि देने को नियुक्त किया था, वे उन्हीं युक्तियों से मार दिये गये । मेरी सारी चालें चंद्रगुप्त का कल्याण करने वाली ही बन गईं ।

विराधगुप्त : पर शुरु हुआ काम तो बीच में नहीं छोड़ना चाहिये । नीच तो काम का प्रारंभ ही नहीं करते, मध्यम श्रेणी के लोग विघ्न आने पर उसे छोड़ बैठते हैं, पर आप जैसे उत्तम श्रेणी के पुरुष तो विरोधों के बार-बार आने पर भी काम अधूरा नहीं छोड़ते ! क्या शेषनाग को पृथ्वी धारण करने में कष्ट

नहीं होता ? फिर भी वे पृथ्वी को सिर से फेंक तो नहीं देते ? क्या सूर्य को इतना चक्कर लगाने में थकान नहीं आती ? फिर भी कब चुप बैठते हैं ? प्रशंसनीय लोग कभी भी काम स्वीकार कर लेने पर छोड़ते हुए तो लज्जित ही होते हैं । क्योंकि जो काम उठा लिया, उसे पूरा करना ही सज्जनों का कुल-परंपरा से चला आता कर्त्तव्य है ।

राक्षस : मित्र ! यह तो खैर है ही । कौन छोड़ता है ! हाँ, आगे क्या हुआ ?

विराधगुप्त : तब से चाणक्य ने चंद्रगुप्त की शरीर-रक्षा में अत्यधिक सतर्क हो कर आपके गुप्तचरों को अनर्थ की जड़ समझ कर कुसुमपुर में पकड़ लिया ।

राक्षस : (घबरा कर) मित्र ! कौन-कौन पकड़ा गया । बताओ । मुझे बताओ ।

विराधगुप्त : अमात्य ! सबसे पहले तो जीवसिद्धि क्षपणक को अपमान कर के नगर से निकाल दिया गया ।

राक्षस : (स्वगत) खैर ! यह तो सहा है । वह तो विरागी था, कहीं किसी स्थान से निकाले जाने पर उसे पीड़ा नहीं होगी । (प्रगट) परंतु मित्र ! उसका अपराध क्या बताया गया ?

विराधगुप्त : दोष यह लगाया कि इसी दुष्ट ने राक्षस की नियुक्त की हुई विषकन्या से पर्वतेश्वर को मरवा दिया !

राक्षस : (स्वगत) धन्य ! कौटिल्य ! धन्य ! अपने पर से कलंक हटा कर हमीं पर थोप दिया ? आधा राज्य पाने के अधिकारी को भी नष्ट करा दिया । तुम धन्य हो ! तुम्हारी एक ही नीति ऐसा फल देती है ? (प्रगट) हाँ, फिर ?

विराधगुप्त : फिर शकटदास पर यह दोष लगाया गया कि इसने

चंद्रगुप्त को मारने को दासवर्मा आदि को नियुक्त किया था ।
उसे इसीलिये सूली दे दी गई ।

राक्षस : (रो कर) हाय ! मित्र शकटदास ! तुम्हारी ऐसी मौत तो बहुत ही अनुचित हुई । पर तुम स्वामी के लिये मरे हो, फिर क्या शोक करूँ ! शोचनीय तो हम हैं, जो नंदवंश के विनष्ट हो जाने पर भी जीवित रहना चाहते हैं !

विराधगुप्त : परंतु आप स्वामी का लाभ ही तो कर रहे हैं !

राक्षस : मित्र ! जीना नहीं चाहते, बस इसीलिये रहते हैं कि कार्य्य पूरा हो ।

विराधगुप्त : हाँ अमात्य ! यों न कहें । स्वामी का कार्य्य हो इसीलिये जीते हैं ।

राक्षस : मित्र ! अब और मित्रों के बारे में कहो, सब सुनने को तत्पर हैं ।

विराधगुप्त : जब यह समाचार मिला तब चंदनदास ने आपका परिवार दूसरी जगह भेज दिया ।

राक्षस : यह तो चंदनदास ने उस क्रूर चाणक्य के विरुद्ध कार्य्य कर दिया ।

विराधगुप्त : क्योंकि मित्र से द्रोह अनुचित होता है अमात्य !

राक्षस : अच्छा तब ?

विराधगुप्त : जब माँगने पर भी उसने आपका परिवार उसके हवाले न किया तो उस क्रुद्ध चाणक्य ने...

राक्षस : (उद्वेग से) उसे मार डाला ?

विराधगुप्त : अमात्य ! मारा नहीं । उसकी संपत्ति छीन कर स्त्री-पुत्रों सहित बंदीगृह में डाल दिया ।

राक्षस : यह भी क्या ऐसे खुश हो कर कहने की बात है कि राक्षस

का परिवार दूसरी जगह भेज दिया ? अरे यों कहो कि उसने तो राक्षस को बाँध लिया ।

[पर्दा हटा कर एक पुरुष का प्रवेश]

पुरुष : आर्य्य की जय ! आर्य्य ! शकटदास द्वार पर उपस्थित हैं ।

राक्षस : प्रियंवदक ! क्या यह सच है ?

प्रियंवदक : क्या मैं अमात्य से भूँठ कह सकता हूँ ?

राक्षस : सखे ! विराधगुप्त ! यह क्या बात है ?

विराधगुप्त : हो सकता है अमात्य ! दैव भाग्यशाली की रक्षा करता है ।

राक्षस : प्रियंवदक ! यह बात है तो देर क्यों करता है ? जल्दी से उन्हें ले आ ।

प्रियंवदक : जैसी अमात्य की आज्ञा ।

[प्रस्थान]

[सिद्धार्थक पीछे है, आगे शकटदास—प्रवेश करते हैं ।]

शकटदास : (बेल कर, स्वगत) पृथ्वी में मौर्य्य के प्रतिष्ठित पद की तरह गड़ी हुई स्थिर सूली को देख कर, उसकी लक्ष्मी की भाँति हृदय फाड़ डालने वाली बध्यमाला को पहन कर भी स्वामी को मृत्यु के कारण कानों को फाड़ने वाले नगाड़े की आवाज़ सुन कर भी न जाने क्यों अभी तक मेरा हृदय नहीं फट गया ! (राक्षस को बेल कर सहर्ष) यह अमात्य राक्षस बैठे हैं । नंद के क्षीण होने पर भी इनकी भक्ति क्षीण नहीं हुई । पृथ्वी के सारे स्वामिभक्तों में यही परम श्रेष्ठ हैं । (पास जा कर) अमात्य की जय !

राक्षस : (बेल कर सहर्ष) सखे शकटदास ! चाणक्य के हाथों पकड़े

जाने पर भी तुम बच कर आ गये हो, आओ मेरे गले से लग जाओ !

[गले मिलते हैं ।]

राक्षस : (आलिगन कर) यहाँ बैठो ।

शकटदास : जैसी अमात्य की आज्ञा ।

[बैठता है ।]

राक्षस : मित्र ! शकटदास ! आखिर ऐसे हर्ष की बात हुई कैसे ?

शकटदास : (सिद्धार्थक को दिखा कर) प्रिय मित्र सिद्धार्थक ने सूली देने वाले बधिकों को भगा कर मुझे बचाया और यहाँ लाये हैं ।

राक्षस : (प्रसन्नता से) भद्र सिद्धार्थक ! जो तुमने किया है उसके सामने तो यह कुछ भी नहीं, फिर भी स्वीकार करो ।

[अपने शरीर के आभूषण उतार कर देता है ।]

सिद्धार्थक : (ले कर पाँव छू कर, स्वगत) यही आर्य्य का उपदेश था । यही कहूँगा । (प्रगट) अमात्य ! मैं यहाँ नया-नया ही आया हूँ, किसी को जानता नहीं कि इसे उसके पास रख कर निश्चित हो जाऊँ । इसलिये आप इस अंगूठी से इस पर मुद्रा लगा कर अपने ही भण्डार में रखें । जब आवश्यकता होगी ले लूँगा ।

राक्षस : अच्छी बात है । यही यही । यही करो शकटदास ।

शकटदास : जैसी आपकी आज्ञा ! (मुद्रा देख कर धीरे से) इस पर तो आपका नाम लिखा है ।

राक्षस : (देख कर दुःख से सोचते हुए, स्वगत) सचमुच ! घर से आते समय ब्राह्मणी ने अपनी उत्कण्ठा को सांत्वना देने को मेरी उंगली से यह अंगूठी ले ली थी । पर यह इसके पास कैसे आई ? (प्रगट) भद्र सिद्धार्थक ! यह अंगूठी तुम्हें कहाँ मिली ?

सिद्धार्थक : अमात्य ! कुमुमपुर में चंदनदास नाम का कोई मणिकार है, उसके द्वार पर मुझे पड़ी मिली थी ।

राक्षस : हो सकता है ।

सिद्धार्थक : क्या हो सकता है अमात्य ?

राक्षस : यही कि बिना धनिकों के घर भला ऐसी वस्तु और कहाँ मिल सकती है ?

शकटदास : मित्र सिद्धार्थक ! यह मुद्रा अमात्य के नाम की है । अमात्य तुम्हें काफ़ी धन देंगे । इसलिये यह इन्हें ही दे दो ।

सिद्धार्थक : आर्य्य ! यह तो मेरे लिये बड़ी प्रसन्नता की बात है कि अमात्य ही इसे ले रहे हैं । (मुद्रा देता है ।)

राक्षस : मित्र शकटदास ! अब इसी मुद्रा से सब काम-काज चलाया करो ।

शकटदास : जैसी अमात्य की आज्ञा ।

सिद्धार्थक : अमात्य ! मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ ।

राक्षस : निश्चित हो कर कहो ।

सिद्धार्थक : चाणक्य का विरोध, आप तो जानते हैं । अब पाटलिपुत्र में प्रवेश करना मेरे लिये संभव नहीं रहा । इसी से आपके चरणों की सेवा करता हुआ यहीं रहना चाहता हूँ, कुछ दिन ।

राक्षस : भद्र ! यह तो बड़ी प्रसन्नता की बात है । तुम्हारी बात सुनकर तो मुझे कहने की भी जरूरत नहीं रही । यहीं रहो ।

सिद्धार्थक : (सहर्ष) अनुगृहीत हुआ ।

राक्षस : मित्र शकटदास ! सिद्धार्थक के आराम का प्रबंध करो ।

शकटदास : जैसी अमात्य की आज्ञा ।

[सिद्धार्थक के साथ प्रस्थान]

राक्षस : मित्र विराधगुप्त ! अब कुमुमपुर की बाकी बात भी सुना

डालो । क्या कुसुमपुर की प्रजा चंद्रगुप्त से हमारे संघर्ष को चाहती है ?

विराधगुप्त : अमात्य ! क्यों नहीं चाहती ? वह तो अपने राजा और मंत्री के पीछे चलती है !

राक्षस : मित्र, इसका कारण ?

विराधगुप्त : अमात्य ! बात यह है कि मलयकेतु के निकल जाने से चंद्रगुप्त ने चाणक्य को चिढ़ा दिया । चाणक्य भी अपने को विजयी समझने के कारण उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन करके उसको दुखी कर रहा है । यह तो मैं जानता हूँ ।

राक्षस : (प्रसन्नता से) सखे विराधगुप्त ! तो तुम फिर सँपेरे के वेश में कुसुमपुर लौट जाओ । वहाँ मेरा मित्र स्तन कलश रहता है । उससे मेरी ओर से कहना कि जब चाणक्य राजाज्ञा का उल्लंघन किया करे तब तुम चंद्रगुप्त की उत्तेजना भरे गीतों से स्तुति किया करना । फिर जो संदेश हो, करभक के द्वारा पहुँचाना मेरे पास ।

विराधगुप्त : जैसी अमात्य की आज्ञा ।

[प्रस्थान]

पुरुष : (प्रवेश कर) अमात्य ! शकटदास निवेदन करते हैं कि तीन आभूषण बिकने को आये हैं । आप उन्हें देख लें !

राक्षस : (देख कर स्वगत) अरे ! बड़े कीमती हैं । (प्रगट) भद्र ! शकट-दास से कहो कि व्यापारियों को पूरे दाम चुका कर खरीद लें ।

पुरुष : जैसी अमात्य की आज्ञा ।

[प्रस्थान]

राक्षस : (स्वगत) तो मैं भी अब करभक को कुसुमपुर भेज दूँ । क्या दुरात्मा चाणक्य और चंद्रगुप्त में फूट पड़ सकेगी ? क्यों नहीं ।

सब काम ठीक होगा । चन्द्रगुप्त अपने प्रताप से राजाओं का शासक है और चाणक्य को इसी का गर्व है कि यह मेरी नीति और सहायता से महाराजा हुआ है । दोनों का काम तो हो चुका । एक को राज्य मिला । दूसरे की प्रतिज्ञा पूर्ण हुई । यह अपने-अपने की अहंमन्यता ही दोनों को अलग करके रहेगी ।

[प्रस्थान]

[दूसरा अंक समाप्त]

तीसरा अंक

[कंचुकी का प्रवेश]

कञ्चुकी : अरी तृष्णो ! जिन इन्द्रियों की सहायता से तूने इतनी प्रतिष्ठा पाई थी, अब वे ही असमर्थ हो गई हैं । तेरे आज्ञाकारी अंक अब शिथिल हो गये हैं । जब बुढ़ापे ने तेरे सिर पर भी पाँव धर दिया, तब तू क्यों व्यर्थ मतवाली हो रही है ! (धूम कर, आकाश देख कर) अरे सुगाङ्ग प्रासाद में नियुक्त पुरुषो ! स्वनाम धन्य देव चंद्रगुप्त की आज्ञा है कि वे कुमुदपुर को कौमुदी महोत्सव के समय रमणीयतर देखना चाहते हैं । इसलिये उनके दर्शन के योग्य सुगाङ्ग प्रासाद का ऊपर का भाग सजाया जाये । अरे, देर क्यों कर रहे हो ? (आकाश की ओर देख-सुन कर) क्या कहा ? आर्य ! क्या देव चंद्रगुप्त कौमुदी महोत्सव का रोक दिया जाना नहीं जानते ? अरे अभागो ! तुम्हें इस सबसे क्या ? क्यों अपनी जान भारी किये हो ? पूर्णचंद्र की किरणों जैसी चँवरों, मालाओं से सजे स्तंभों और धूप गंधित आवास से सब कुछ सुंदर बना दो । बहुत दिनों से सिंहासन का बोझ ढोने से थकी हुई धरती को सुगंधित फूलों और चंदन के जल से सींचो ! (आकाश की ओर देख कर) क्या कहा ? मैं शीघ्रता कर रहा हूँ ?

अरे भद्रो ! जल्दी करो । देव चंद्रगुप्त आने ही वाले हैं । विषम पथों में भी अचल, अनेक मन्त्रियों के साथ देव नंद ने जिस महान् पृथ्वी का भार धारण किया था, उसी को नयी अवस्था में धारण करके देव चंद्रगुप्त खेद का अनुभव तो करते हैं, परंतु दुखी नहीं होते ।

[नेपथ्य में—इधर देव ! इस ओर !]

[राजा और प्रतीहारी का प्रवेश]

राजा : (स्वगत) प्रजा की रक्षा में लगे राजा के लिये तो यह राज्य असल में असंतोष का स्थान है । वह सदा दूसरों के कामों में लगा रहता है, उसकी कोई स्वतंत्रता नहीं रहती । और जो दूसरों का काम नहीं करता, वह असल में राजा ही नहीं है । और अपने से ज्यादा जो औरों की चिंता करता है, वह राजा स्वतंत्र कहाँ है ? परतंत्र मनुष्य भी क्या सुख का अनुभव कर सकता है ? स्थिर चित्त रहने वालों के लिये भी राज्यलक्ष्मी की आराधना कठिन है । न यह अत्यंत कठोर हृदय राजा के पास रहती है, न अपमान के डर से कमजोर राजाओं के पास ही । यह मूर्खों से द्वेष करती है, और अत्यंत पंडित राजाओं से भी इसे स्नेह नहीं है । शूरवीरों से अधिक डरती है और कमजोरों की हँसी उड़ाती है । मौका पा कर बदलने वाली वेश्या की भाँति इस राज्य-श्री का सेवन अत्यंत कठिनाई से होता है । और अब आर्य्य चाणक्य का उपदेश है कि बनावटी लड़ाई करके मैं कुछ दिन उनसे स्वतंत्र व्यवहार करूँ । मैंने तो इसे पाप समझ कर स्वीकार किया है । मैं तो निरंतर आर्य्य की आज्ञा से पवित्र बुद्धि रहता हूँ, भले ही परतंत्र ही सही । अच्छे काम करने वाले शिष्यों को गुरु नहीं रोकते । पर जब वह

मस्ती में रास्ते से हटता है तो गुरु अंकुश बन कर उसे राह पर लाते हैं। हम विनयशील हैं तभी स्वतंत्र हैं, परंतु यदि यह नहीं तो स्वतंत्रता भी हमारे लिये नहीं है। (प्रगट) आर्य्य वैहीनरे! सुगाङ्ग प्रासाद का मार्ग दिखायें।

कञ्चुकी : महाराज इधर से आयें।

[राजा घूमता है।]

कञ्चुकी : (घूम कर) यह सुगाङ्ग प्रासाद है आर्य्य ! धीरे-धीरे आराम-आराम से इसमें चढ़ चलें।

राजा : (चढ़ते हुए दिशाएँ देख कर) अहा ! शरत्काल में दिशाएँ कैसी सुंदर हो गई हैं। रेतीली भूमि जैसे श्वेत मेघों से दिशाएँ कितनी स्वच्छ और शांत लगती हैं। सारसों की केन्कार से गुँजती रात में तारों से भरी दसों दिशाएँ आकाश में नदी जैसी बही जा रही हैं। अब उच्छृंखल जल-प्रवाह स्वाभाविक हो गये हैं। धान लद गये हैं और उग्र विष की भाँति शरदऋतु मोरों का गर्व मिटाती जगत को मानो विनय का पाठ पढ़ा रही है। जैसे रति-कथा में चतुर दूती प्रिय के अपराधों से कुपिता, चिंता से दुर्बल नायिका को मार्ग बता कर प्रियतम के पास पहुँचा देती है, वैसे ही अत्यंत वर्षा से मलिन और क्षीण हो गई-सी गंगा को यह शरद् ऋतु सिंधु के पास ले जा रही है। (चारों ओर देख कर) अरे ! क्या कौमुदी महोत्सव आरंभ नहीं हुआ ?

कञ्चुकी : हाँ देव ! देव की आज्ञा से घोषणा तो कर दी गई थी।

राजा : आर्य्य ! तो क्या मेरी आज्ञा का नागरिकों ने पालन नहीं किया ?

कञ्चुकी : (कानों पर हाथ रख कर) देव ! पाप शान्त हो ! पाप शान्त

हो । पृथ्वी पर आपका अखंड शासन है । नगर-निवासी क्या उल्लंघन करेंगे !

राजा : आर्य्य वैहीनरे ! तो कुसुमपुर में कौमुदी महोत्सव क्यों नहीं हो रहा है ? बातों में कुशल धूर्तों से अनुगत वेश्याएँ सघन जंघाओं के भार से मन्द-मन्द चलती हुई मार्गों की शोभा कहाँ बढ़ा रही हैं ? अपने-अपने वैभव की प्रतिस्पर्धा करने वाले धनी लोग अपनी प्रियतमाओं के साथ कौमुदी महोत्सव क्यों नहीं मना रहे हैं ?

कञ्चुकी : नहीं कर रहे देव !

राजा : पर क्यों ?

कञ्चुकी : देव, बात यह है...

राजा : स्पष्ट कहो आर्य्य !

कञ्चुकी : देव, कौमुदी महोत्सव का निषेध किया गया है ।

राजा : (क्रोध से) किसने किया ?

कञ्चुकी : देव, इससे अधिक कहने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है ।

राजा : प्रजा के देखने योग्य इस मनोहर उत्सव को कहीं आर्य्य चाणक्य ने तो नहीं रोक दिया ?

कञ्चुकी : देव के शासन का उल्लंघन और कौन जीवित रहने की इच्छा करने वाला कर सकता है ?

राजा : शोणोत्तरे ! मैं बैठना चाहता हूँ ।

प्रतीहारी : देव ! यह आसन है । बैठें देव !

राजा : (बैठ कर) आर्य्य वैहीनरे ! मैं आर्य्य चाणक्य को देखना चाहता हूँ ।

कञ्चुकी : जैसी आर्य्य की आज्ञा ।

[प्रस्थान]

[आसन पर बैठे हुए अपने घर में क्रोध और चिंता से चाणक्य का प्रवेश]

चाणक्य : (स्वगत) अरे दुरात्मा राक्षस ! मुझसे क्यों स्पर्धा करता है । जैसे अपमानित चाणक्य ने कुसुमपुर से क्रुद्ध सर्प की भाँति बाहर रह कर ही नंद का विनाश करके मौर्य्य को नृपति बना दिया, वैसे ही राक्षस भी अपने बारे में सोच रहा है कि वह बाहर रह कर ही चंद्रगुप्त की राज्य-श्री को छीन लेगा ? (आकाश में प्रत्यक्ष की भाँति देख कर) राक्षस ! राक्षस ! इस दुष्कर कार्य्य में हाथ लगाने से रुक जा । राजा नंद तो बुरे मंत्रियों के द्वारा राजकाज सँभाले जाने के कारण ग्रहंकारी हो गया था । चंद्रगुप्त वैसा कहाँ है ? और न तू ही चाणक्य है । मेरी बराबरी करना ही तुम्हारी सबसे बड़ी शत्रुता है । (सोच कर) मुझे इस बारे में अधिक खेद नहीं करना चाहिये । मेरे गुप्तचर पर्वतेश्वर के पुत्र मलयकेतु को बस में कर ही लेंगे । सिद्धार्थक आदि भी काम में लगे हैं । इस समय मैं किसी बहाने से चंद्रगुप्त से कलह करके भेद नीति के कौशल से राक्षस को शत्रु मलयकेतु से अलग कर दूँ ।

कञ्चुकी : (प्रवेश कर) सेवा का ही नाम कष्ट है । पहले तो राजा से डरो, फिर मंत्री से, फिर राजा के प्रियमित्रों से और तब राजा के प्रासाद में प्रसाद-प्राप्त विटों से । इस पेट के भरने को जो दीनता से मुँह ऊपर उठा कर गिड़गिड़ाकर बोलना पड़ता है, ऐसी तुच्छ बना देने वाली सेवा को विद्वानों ने ठीक ही 'कुत्ता-जोविका' कहा है । (घूम कर, देख कर) आर्य्य चाणक्य का ही तो

घर है। मैं प्रवेश करूँ। (प्रवेश करके देख कर) अहा ! राजाधिराज के मंत्री के घर का कैसा वैभव है ! एक ओर कण्डों को फोड़ने के लिये पत्थर का टुकड़ा पड़ा है और इधर यह ब्रह्मचारियों से लाई हुई कुशा का ढेर है। सूखती समिधाओं से दबे हुए छज्जे वाला, टूटी-फूटी दीवारों से सुशोभित कैसा घर है ! ठीक है। तभी तो यह देव चंद्रगुप्त को वृषल कहते हैं। सच बोलने वाले भी जब दीन बन कर बिना थके हुए सदेव गुणहीन राजा की स्तुति करते हैं, तब वे तृष्णा के ही मारे हुए होते हैं। पर जो निरीह निस्पृह है उन्हें तो स्वामी भी तिनके जैसा दिखाई पड़ता है। (देख कर भय से) आर्य्य चाणक्य बैठे हैं। इन्होंने मंत्रियों को तिरस्कृत कर दिया। एक ही समय नद का अस्त और चंद्रगुप्त का उदय कर दिया। ये तो अपने तेज से उस सहस्ररश्मि सूर्य को भी हरा रहे हैं जो लोकालोक पर्वत को तपा कर क्रम से शीत और ऊष्णता प्रदान करता है।*

(घुटनों के बल भूमि पर बैठ कर प्रणाम करके) आर्य्य की जय !

चाणक्य : (देख कर) वैहीनरे ! कैसे आये ?

कञ्चुकी : आर्य्य ! शीघ्रतर प्रणाम करते राजाओं की मुकुटमणि प्रभा से पीले सुनहले-से चरणों वाले, स्वनामधन्य, देव चंद्रगुप्त सिर झुका कर निवेदन करते हैं कि यदि आवश्यक कार्य्य में किसी प्रकार की बाधा न हो तो आर्य्य को देखना चाहता हूँ।

चाणक्य : वृषल मुझे देखना चाहता है ? वैहीनरे ! कहीं मैंने जो कौमुदी महोत्सव का निषेध किया है वह वृषल ने सुन तो नहीं लिया ?

* पुराने भूगोल के अनुसार पृथ्वी एक पर्वत से घिरी है। उसके एक ओर लोक(उजाला)और दूसरी ओर अलोक(अंधेरा)है। इसको 'लोकालोक' कहते हैं।

कञ्चुकी : हाँ आर्य्य ! सुन लिया है ।

चाणक्य : (क्रोध से) किसने कहा ?

कञ्चुकी : (डर कर) आर्य्य ! प्रसन्न हों ! स्वयं सुगाङ्ग प्रासाद के शिखर पर गये देव ने ही देखा कि कुसुमपुर में कोई उत्सव नहीं हो रहा था ।

चाणक्य : अब मैं समझा । तुम्ही लोगों ने मेरी अनुपस्थिति में वृषल को भड़का कर क्रुद्ध कर दिया है ।

[कञ्चुकी भयभीत-सा सिर झुकाये खड़ा रहता है ।]

चाणक्य : ओह ! राजा के परिजनों को चाणक्य से इतना द्वेष है ? हाँ, अब वृषल कहाँ है ?

कञ्चुकी : (भय से) आर्य्य ! सुगाङ्ग प्रासाद में आये हुए देव ने ही मुझे आर्य्य के श्रीचरणों में भेजा है ।

चाणक्य : (उठ कर) कञ्चुकी ! चलो, प्रासाद चलो !

कञ्चुकी : चलिये आर्य्य !

[घूमते हैं ।]

कञ्चुकी : लीजिये सुगाङ्ग प्रासाद आ गया । आर्य्य ऊपर चढ़ें । आराम से ।

चाणक्य : (चढ़ कर, प्रसन्नता से देख कर, स्वगत) ओह ! सिंहासन पर वृषल बैठा है । धन्य ! धन्य ! जिनका वैभव कुबेर को भी अपमानित करता था, उन नंदों से मुक्त यह सिंहासन राजराज वृषल जैसे योग्य राजा से सुशोभित है । ये सब मुझे अत्यंत सुख दे रहा है । (पास जा कर) वृषल की जय !

राजा : (सिंहासन से उठ कर चाणक्य के पाँव पकड़ कर) आर्य्य ! चंद्रगुप्त प्रणाम करता है ।

चाणक्य : (हाथ पकड़ कर) उठो वत्स ! उठो ! जाह्नवी की धारा से

शीतल हिमालय से लेकर रंगबिरंगी रत्नप्रभा से शोभित दक्षिण समुद्र तक के राजा, भयभीत और नतशिर से, तुम्हारे चरणों के नखों को अपने रत्न जटित मुकुटों की मणि-प्रभाओं से सदैव सुंदर बनाते रहें ।

राजा : आर्य्य के प्रसाद के बल इसका अनुभव करता हूँ, आशा नहीं । बैठें ! आर्य्य !

[दोनों यथायोग्य आसनों पर बैठते हैं ।]

चाणक्य : वृषल ! हमें क्यों बुलाया गया है ?

राजा : आर्य्य के दर्शन से अपने को अनुग्रहीत करने ।

चाणक्य : (मुस्करा कर) इस नम्रता को रहने दो वृषल ! अधिकारी कार्य्यकर्त्ताओं को स्वामी व्यर्थ ही नहीं बुलाते, प्रयोजन बताओ ।

राजा : आर्य्य ! आपने कौमुदीमहोत्सव रोकने में क्या फल देखा है ?

चाणक्य : (मुस्करा कर) तो वृषल ने हमें ताना मारने को बुलाया है ?

राजा : नहीं आर्य्य ! उपालम्भ को नहीं ।

चाणक्य : तो फिर ?

राजा : निवेदन करने ।

चाणक्य : वृषल ! यदि यही बात है तो शिष्य गुरु की आज्ञा पालन करे ।

राजा : इसमें क्या संदेह है आर्य्य ! परंतु कभी आर्य्य कोई बात बिना कारण नहीं करते, यही पूछता हूँ ।

चाणक्य : वृषल ! ठीक समझ गये । स्वप्न में भी चाणक्य कोई बात व्यर्थ नहीं करता ।

राजा : तो आर्य्य ! वह प्रयोजन मुझे बतायें । इच्छा पूछने की प्रेरणा देती है ।

चाणक्य : वृषल ! सुनो । अर्थशास्त्र बनाने वाली तीन विधियों में सिद्धि बताते हैं । सिद्धि राजा के आधीन हो या मंत्री के या दोनों के । यह तो मंत्री के आधीन रहने वाली सिद्धि है, इससे तुम्हें क्या लाभ होगा ? हमारा काम है, हमीं नियुक्त हैं, हम ही जानते हैं ।

[राजा क्रोध से मुँह फेर लेता है । उस समय नेपथ्य से दो वंतालिक कविता सुनाते हैं ।]

एक वंतालिक :

कौमुदी सी श्वेत मुण्डों की गले में माल पहने,
काँस कुमुमों से गगन को भस्म सी उज्ज्वल बनाती,
चंद्रमा की रश्मियों से मेघ से नीले गहनतम
गज-अजिन को रँग रही सी, जगमगाती,
अट्टहास निरत सदाशिव सी शरद ऋतु यह सुहानी,
राजहंसों से मुशोभित, अब करे पीड़ा अजानी ।
दूर कर दे क्लेश ये सारे तुम्हारे रूपशालिनि
निर्मला कल्याण भर दे, सुख निरत भर दे सुहासिनि !

और—

जो फनों पर शीश धर कर सो रहे थे,
वह सुविस्तृत शेष-शैय्या त्यागने को,
खोलते तत्काल अपने प्रिय-नयन हे,
विष्णु अपनी नींद से उठ जागने को,
अलस अँगड़ाई सजल जिसको गई कर
रत्नमणियों की प्रभा ने चौधिया दी जो नमित कर

दृष्टि वह हरि की करे रक्षा तुम्हारी
है यही शुभ कामना मन से हमारी !

दूसरा वैतालिक :

स्वयं विधाता ने ही जग में
किसी महत अनिर्वचनीय रे—
कारण से निर्माण किया है,
हे नरेन्द्र ! जय श्लाघनीय रे
तुम मद गज यूथों को करते
वश में, सतत पराजित करते,
सार्वभौम शासक महान् हो
वीरों में नर-पुंगव लगते !
अतुल पराक्रम फैल रहा है
सब पर छाया हुआ क्रांत रे,
कौन सिंह की दाढ़ उखाड़े
कौन हो उठे भला भ्रांत रे !
तुम न सहोगे निज आज्ञा का
उल्लंघन हे शत्रु विनाशी !
सदा रहे ये जयमय वैभव,
गरिमा रहे सदा बन दासी !

और—

जाने कितने ही शरीर पर
अलंकार धारण करते हैं,
पर क्या आभूषण-धारण से
हर कोई स्वामी बनता है ?
तुम जैसे महिमवन्त वीर ही
अपनी गरिमा से रहते हैं—
जिनका शब्द न टले एक भी
उनको जग स्वामी कहता है ।

चाणक्य : (सुन कर स्वगत) प्रारंभ में तो देवता-विशेष की स्तुति करके शरद् ऋतु का वर्णन करते हुए एक आशीर्वाद था । परंतु दूसरे ने क्या कहा ? समझ में ठीक नहीं बैठता । (सोच कर) ओह ! समझा ! यह राक्षस का ही प्रयोग है । अरे दुरात्मा राक्षस ! मैं तुझे देख रहा हूँ । जाग रहा हूँ । कौटिल्य जागरूक है ।

राजा : आर्य्य वैहीनरे ! इन वैतालिकों को एक लाख सुवर्ण* दिलवा दो ।

कञ्चुकी : जैसी देव की आज्ञा ।

[उठ कर चलता है ।]

चाणक्य : (क्रोध से) वैहीनरे ! ठहर ! रुक जा ! वृषल ! यह अनुचित स्थान में इतना धन क्यों व्यय कर रहे हो ?

राजा : ऐसे जो हर तरह आप मेरी इच्छाओं में रुकावट डालेंगे तो यह मेरे लिये राज्य क्या है, बंधन है !

चाणक्य : वृषल ! जो राजा स्वतंत्र नहीं होते उन्हें ये दोष होते हैं । यदि तुम सहन नहीं करते तो स्वयं अपना राज्य चलाओ ।

राजा : मैं स्वयं अपना काम कर लूंगा ।

चाणक्य : बहुत अच्छा है हमारे लिये । हम भी अपने काम में लगेंगे ।

राजा : यही बात है तो मुझे कौमुदीमहोत्सव रोकने का कारण बता दिया जाये ।

चाणक्य : और मैं भी यह मुनना चाहता हूँ वृषल ! कि उसे मनाने से क्या लाभ था ?

राजा : सबसे पहले तो मेरी आज्ञा का पालन था ।

* सिक्के — सोने के ।

चाणक्य : उसी का उल्लंघन करना ही तो मेरा सबसे पहला प्रयोजन था वृषल ! तमाल की नई कोंपलों के-से काले किनारे वाले अत्यंत भयानकमगर मच्छों से उठाई हुई तरंगों से भरे चारों समुद्रों के पार से आये हुए जो राजा माला की तरह तुम्हारी आज्ञा को सिर पर धारण करते हैं, वह आज्ञा भी मेरे ही कारण तुम्हारे इस स्वामित्व को स्थित किये हुए है ।

राजा : और दूसरा क्या है ?

चाणक्य : कहता हूँ वह भी ।

राजा : कहिये !

चाणक्य : शोणोत्तरे ! शोणोत्तरे ! मेरी आज्ञा से अचलदत्त कायस्थ से कहो कि चंद्रगुप्त से स्नेह न रख कर जो भाग कर मलयकेतु के आश्रित हो गये हैं उन भद्रभट्ट आदि ने क्या लिखा है ! वह पत्र दे ।

प्रतीहारी : जैसी आर्य्य को आज्ञा । (प्रस्थान, फि वेश कर) आर्य्य यह रहा पत्र ।

चाणक्य : (ले कर) वृषल ! सुनो ।

राजा : मेरा ध्यान लगा है ।

चाणक्य : (पढ़ता है ।) “कल्याण हो ! स्वनाम धन्य देव चंद्रगुप्त के साथ उत्थान करने वाले वे लोग जो नगर से भाग कर अब मलयकेतु के आश्रित हो गये हैं, यह उन्हीं प्रधान पुरुषों का प्रमाणपत्र है । इसमें गजाध्यक्ष भद्रभट्ट, अश्वाध्यक्ष पुरुषदत्त, प्रधान द्वारपाल चन्द्रभानु का भाञ्जा हिंगुरात, देव का स्वजन बलगुप्त, देव की बाल्यावस्था का सेवक राजसेन, सेनानायक सिंहबल का अनुज भागुरायण, मालवराज का पुत्र लोहिताक्ष और क्षत्रियगण में मुख्यतम विजयवर्मा हैं ।” (स्वगत) हम देव

का कार्य्य ही कर रहे हैं । (प्रगट) यही पत्र है ।

राजा : आर्य्य ! इन सबको मुझसे अनुराग क्यों नहीं रहा, यही जानना चाहता हूँ ।

चाणक्य : सुनो वृषल ! ये जो गजाध्यक्ष भद्रभट्ट और अश्वाध्यक्ष पुरुषदत्त थे, ये दोनों स्त्री, मद्य और मृगया में लगे रहने के कारण हाथी और घोड़ों की ठीक से देखभाल नहीं करते थे, तभी मैंने इन्हें पदच्युत कर दिया । जीविका न रहने पर ये लोग भाग गये और मलयकेतु के यहाँ जा कर इन्हीं कामों में लग गये । ये जो हिंगुरात और बलगुप्त हैं अत्यंत लोभी हैं और हमारे दिये धन को कम समझ कर, यह सोच कर कि वहाँ ज्यादा मिलेगा, मलयकेतु से जा मिले । और तुम्हारा बचपन का सेवक राजसेन तो इसलिये भाग गया कि उसे यह शङ्का हो गई कि तुम्हारे अनुग्रह से जो उसे आवश्यकता से अधिक हाथी, घोड़े, कोष मिले थे, वह कहीं छीन न लिये जायँ । सेनापति सिंहबल का अनुज भागुरायण पर्वतक का मित्र था । उसी ने मलयकेतु को एकांत में डराया था कि चाणक्य ने ही उसके पिता पर्वतेश्वर को मारा । उसीके कारण मलयकेतु भाग गया । जब तुम्हारे विरोधी चंदनदास आदि पकड़े गये तब उसे डर हो गया कि कहीं उसका भी दोष प्रगट न हो जाये । वह भी मलयकेतु के आश्रय में चला गया । मलयकेतु ने उसे अपना जीवनरक्षक समझ कर, कृतज्ञता दिखा कर, अपना मंत्री बना लिया । लोहिताक्ष और विजयवर्मा अत्यंत अहंकारी थे । वे तुम्हारे दिये दाय्यादि धन को न सह कर उधर चले गये, यही है इन सबके वैराग्य का कारण ।

राजा : किंतु आर्य्य ! जब आप सब की उदासीनता का कारण

जानते थे तब आपने उसका निराकरण करने का यत्न क्यों नहीं किया ?

चाणक्य : क्योंकि इसकी आवश्यकता नहीं थी । यह उचित नहीं था ।

राजा : क्या असामर्थ्य के कारण ? या और कोई बात थी ?

चाणक्य : असामर्थ्य कैसी ? सबका कारण था ।

राजा : पूछ सकता हूँ ?

चाणक्य : वृषल ! सुनो और समझो !

राजा : दोनों काम कर रहा हूँ आर्य्य ! कहिये ।

चाणक्य : वृषल ! जब प्रजा में अनुराग नहीं रहता तो उनको साधने के दो तरीके होते हैं । अनुग्रह ! या निग्रह ! दया का अर्थ था कि मैं भद्रभट्ट और पुरुषदत्त को फिर उनके पदों पर नियुक्त कर देता ? और वे व्यसनी अधिकार पा कर सारे राज्य के हाथी-घोड़ों को नष्ट कर डालते । सारा राज्य पाकर भी जो संतुष्ट नहीं होते ऐसे लोभी हिंगुरात और बलगुप्त पर मैं दया करता ? धन-जीवन के नाश-भय से चंचल राजसेन और भागुरायण पर दया कैसे की जाती । उन्होंने अवसर ही कब दिया ? जो दायद के धन को न सह सके उन अहंकारी लोहि-ताक्ष और विजयवर्मा से अनुग्रह कैसा किया जाता ? इसलिये मैंने निग्रह लिया । पर अभी ही नंद का वैभव प्राप्त करने वाले हम लोग यदि प्रधान सहायक पुरुषों पर कठोर दण्ड की पीड़ा धरते तो नंदवंश में अभी तक स्नेह रखने वाली प्रजा हमारा विरोध करती । इसलिये मैंने निग्रह भी छोड़ दिया । इस समय हमारे सेवकों को आश्रय देने वाला, राक्षस की नीति से प्रेरित हो कर, पिता की मृत्यु से क्रुद्ध मलयकेतु विशाल म्लेच्छ सेना के साथ हम पर आक्रमण करने को आनेवाला

है। यह पुरुषार्थ का समय है, या उत्सव मनाने का ? जब दुर्ग की तैयारी आवश्यक हो, तब कौमुदी महोत्सव से क्या लाभ होगा ? इसीलिये मैंने इसका निषेध किया।

राजा : आर्य्य ! इस बारे में तो अभी बहुत कुछ पूछने योग्य है !

चाणक्य : वृषल ! विश्वस्त हो कर पूछो। मुझे भी इस बारे में बहुत कुछ कहना है।

राजा : तो कहें। मैं पूछता हूँ।

चाणक्य : अच्छा मैं भी कहता हूँ।

राजा : जो हमारी हानि की जड़ है उस मलयकेतु को भागते समय क्यों उपेक्षा करके छोड़ दिया गया ?

चाणक्य : वृषल ! यदि उपेक्षा न की जाती तो दो ही तरीके थे। या तो उसे पकड़ा जाता, या उस पर दया की जाती। दया करने से तो उसे पहले से प्रतिज्ञा किया हुआ आधा राज्य देना पड़ता। और दंड में हमें यह कलंक भी स्वीकार करना ही पड़ता कि हमीं ने पर्वतक को कृतघ्नतापूर्वक मरवा डाला। और प्रतिज्ञा किया आधा राज्य दे कर भी तो यही होता कि पर्वतक की मृत्यु केवल कृतघ्नता मात्र फल दे जाती। इसीलिये मैंने भागते हुए मलयकेतु की उपेक्षा कर दी।

राजा : यह है उत्तर आपका ! लेकिन इसी नगर में रहते राक्षस की उपेक्षा क्यों की ? इसके लिये आपके पास क्या उत्तर है ?

चाणक्य : राक्षस अपने स्वामी का बहुत ही भक्त था। वह बहुत दिनों से अमात्य था। नंद की शीलपरायण प्रजा को उस पर विश्वास था। वह बुद्धि, उत्साह, सहायकों और कोषबल से इसी नगर में रहता हुआ एक भयानक आंतरिक विद्रोह फैला देता। दूर रहने पर वह बाहर से क्रोध उत्पन्न अवश्य करेगा,

पर ऐसा असाध्य नहीं होगा, यही सोच कर मैंने उसे भी भागते देख कर उपेक्षा कर दी ।

राजा : जब वह यहीं था तभी क्यों न उपायों से उसे वश में कर लिया गया ?

चाणक्य : वह कैसे संभव था ! उपायों से ही तो हमने उस छाती में गड़े शूल को दूर कर दिया ! और दूर करने का कारण भी बता दिया !

राजा : आर्य्य ! उसे बलपूर्वक क्या नहीं पकड़ा जा सकता था ?

चाणक्य : वृषल ! यदि तुम उसे बलपूर्वक पकड़ते तो या तो वह स्वयं मर जाता या तुम्हारी सेना को मार देता । दोनों ही स्थितियाँ अनुचित थीं । आक्रमण के समय यदि वह मारा जाता तो वैसा अलौकिक व्यक्ति नहीं मिलता वृषल ! सदा के लिये उससे वंचित रह जाते । यदि वह तुम्हारी सेना को नष्ट कर देता तो क्या कम दुःख की बात थी ! वह तो जंगली हाथी की तरह ही तरह-तरह के कौशल से पकड़ा जाये, यही उचित है ।

राजा : आपकी बुद्धि से हम नहीं जीत सकते । अमात्य राक्षस सर्वथा प्रशंसा करने योग्य है ।

चाणक्य : (क्रोध से) रुक क्यों गये ? वाक्य पूरा करो कि 'आप नहीं हैं ।' किन्तु वृषल ! यह भी मत समझो ! उसने किया ही क्या ?

राजा : यदि आप नहीं जानते तो सुनिये । वह महात्मा हमारे जीते नगर में ही, हमारे कंठ पर पाँव रख कर अपनी इच्छा से रहता रहा; जब सेना का जय-जयकार आदि हुआ तब उसने कामों में बाधा डाली । हमको अपनी नीति की चतुरता से

उसने ऐसा मोहित कर दिया कि हमें अब अपने ही विश्वसनीय जनों में विश्वास नहीं होता ।

चाणक्य : (हँस कर) वृषल ! यह सब राक्षस ने किया ?

राजा : और क्या ? यह अमात्य राक्षस का ही काम है ।

चाणक्य : मैं समझ गया । नंद की तरह तुम्हें वह उखाड़ कर मलय-केतु को सिंहासन पर बिठा देगा ।

राजा : ताना न मारिये आर्य्य ! सब कुछ भाग्य करता है । इसमें आपने ही क्या किया है ?

चाणक्य : ओ ईर्ष्या ! भयंकर क्रोध से टेढ़ी उँगली से शिखा खोल कर, सबके सामने ही समूल सर्वपरिवार समेत शत्रु विनाश करने की बहुत बड़ी प्रतिज्ञा करके मेरे अतिरिक्त और कौन है जिसने निन्यानवे करोड़ के स्वामी उन अहंकारी नंदों को राक्षस के देखते-देखते ही पशु की तरह मार डाला है । आकाश में पंखों को स्थिर करके घेरा डालने वाले गिद्धों के-से काले धुएँ से जो दिशाओं को मेघाच्छादित करके सूर्य का भी तेज ढँके दे रही हैं, जिन्होंने श्मशान के प्राणियों को नंदों के शवों से आनंदित किया है, वह प्रचंड अग्नियाँ उनके अंगों से बही चर्बी पी-पी कर अभी भी शान्त नहीं हुई हैं । उन्हें देखते हो ?

राजा : यह किसी और ने ही किया है ।

चाणक्य : किसने !

राजा : नन्दकुल के द्वेषी दैव ने !

चाणक्य : अज्ञानी ही दैव को प्रमाण मानते हैं !

राजा : विद्वान् कभी स्वयं अपनी प्रशंसा नहीं करते ।

चाणक्य : (क्रोध से) वृषल ! वृषल ! तुम मुझ पर सेवक की भाँति ही शासन चलाना चाहते हो ? मेरा हाथ फिर बँधी हुई शिखा

को खोलने को तैयार हो रहा है...

[पृथ्वी पर पैर पटक कर]

और एक बार फिर मेरा पाँव प्रतिज्ञा करने को आगे उठना चाहता है। नन्दों का नाश करके जो मेरी क्रोधाग्नि शांत हो रही है, उसे तू फिर काल से प्रेरित हो कर प्रज्वलित कर रहा है !

राजा : (घबरा कर स्वगत) अरे ! क्या आर्य्य सचमुच क्रुद्ध हो गये। क्रोध से इनकी पलकों से निकले जल से क्षीण हो जाने पर भी आँखें लाल-लाल दीख रही हैं। टेढ़ी भृकुटि क्रोध का धूँआ बन गई है। चाणक्य के चरण प्रहार को, ताण्डव नृत्य के समय रुद्र का ध्यान करती थर-थर काँपती धरती ने न जाने कसे सहन किया है !

चाणक्य : (नकली क्रोध छोड़ कर) वृषल ! वृषल !! बस अब सवाल-जवाब रहने दो। यदि राक्षस को अच्छा समझते हो तो यह शस्त्र उसे ही दे देना। (शस्त्र छोड़ कर, उठ कर आकाश को एकटक देख कर स्वगत) राक्षस ! राक्षस ! कौटिल्य की बुद्धि को जीतने वाली तुम्हारी बुद्धि की यही उन्नति है !—मैं चाणक्य के प्रति श्रद्धा न रखने वाले चंद्रगुप्त पर चैन से विजय प्राप्त कर लूंगा—इस विचार से जो तूने षड्यंत्र रचा है, अरे नीच ! आ उसी में फँस ! यही तेरा अहित करे।

[प्रस्थान]

राजा : आर्य्य वैहोनरे ! आज से चाणक्य को अनादृत करके चंद्रगुप्त स्वयं राज्य करेगा—सब में यही सूचित करा दो।

कञ्चुकी : (स्वगत) क्या बिना किसी आदर-सूचक शब्द के ही चाणक्य कह दिया ? आर्य्य चाणक्य नहीं कहा ? शोक ! सचमुच

ही अधिकार ले लिया गया । किंतु इसमें देव का भी क्या दोष !
 राजा का बुरा काम मंत्री का ही दोष होता है, जैसे महावत की
 गलती से ही हाथी की निंदा की जाती है ।

राजा : आर्य्य ! क्या सोच रहे हैं ?

कञ्चुकी : देव ! कुछ नहीं । किंतु निवेदन है कि सौभाग्य से देव
 वास्तव में आज ही देव हुए हैं ।

राजा : (स्वगत) जब हमें लोग ऐसा सचमुच ही समझ रहे हैं, तब
 अपने कार्य्य की सिद्धि चाहने वाले आप अवश्य सफल हों !
 (प्रगट) शोणोत्तरे ! इस शुष्क कलह से मेरे सिर में पीड़ा हो
 रही है, चल, शयन गृह का मार्ग दिखा ।

प्रतीहारी : इधर महाराज ! इधर से ।

राजा : (आसन से उठ कर स्वगत) आर्य्य की आज्ञा से गौरव का
 उल्लंघन करने पर मेरी बुद्धि पृथ्वी में समा जाना चाहती है ।
 फिर जो लोग सचमुच ही बड़ों का आदर नहीं करते, लज्जा
 से उनके हृदय क्यों नहीं फट जाते ?

[सब का प्रस्थान]

[तीसरा अंक समाप्त]

चौथा अंक

[पथिक-वेश में एक पुरुष का प्रवेश]

पुरुष : आश्चर्य ! परम आश्चर्य ! स्वामी की आज्ञा के उल्लंघन का भय न हो तो कौन इस तरह सैकड़ों योजनाओं तक ऐसे मारा-मारा फिरे ? राक्षस अमात्य के घर ही चलूं । (थका-सा घूम कर) घरे ! यहाँ कौन दौवारिक है ? स्वामी अमात्य राक्षस से निवेदन करो कि करभक्त हाथी के बच्चे की तरह ही कार्य सिद्ध करके पाटलिपुत्र से आया है ।

दौवारिक : (प्रवेश कर) भद्र ! धीरे बोलो । स्वामी अमात्य राक्षस के कार्याधिक्य की चिंता से सिर में दर्द है । वे अभी तक शय्या पर ही हैं । जरा रुको । मैं अवसर पा कर अभी तुम्हारे बारे में निवेदन करता हूँ ।

पुरुष : अच्छी बात है ।

[शय्या पर लेटे राक्षस और आसन पर बंठे शकटदास का चिंता-ग्रस्त रूप में प्रवेश]

राक्षस : (स्वगत) कार्य के प्रारंभ में भाग्य के विरुद्ध होने और चाणक्य की सहज कुटिल बुद्धि के बारे में सोचने से, मेरी हर चाल कटते रहने से, यह कैसे होगा, यह कैसे सिद्ध मिलेगी—

यही सोचते हुए मेरी रातें ऐसे ही जागते हुए बीत रही हैं !
जरा-सी बात लेकर चलना प्रारंभ करके, फिर विस्तार करके,
गुप्त बातों को गूढ़ रीति से धीरे-धीरे प्रगट करके, कर्त्तव्या-
कर्त्तव्य को जानते हुए उस तमाम फैलाव को फिर समेटने के इस
क्लेश को या तो नाटककार अनुभव करता है या हमारा जैसा
आदमी !^१ इतने पर भी दुरात्मा चाणक्य...

दौवारिक : (पास जा कर) जय ! जय !

राक्षस : (स्वगत) पराजित किया जा सकता है...

दौवारिक : अमात्य !

राक्षस : (बाई आंख फड़कना सूचित करके स्वगत) दुरात्मा चाणक्य की
जय और पराजित किया जा सकता है अमात्य ! यह क्या
सरस्वती बोल रही है बाई आंख फड़का कर ! फिर भी उद्यम
नहीं छोड़ना चाहिये । (प्रगट) भद्र क्या कहते हो ?

दौवारिक : अमात्य ! करभक पाटलिपुत्र से आया है और आपसे
मिलना चाहता है ।

राक्षस : उसे बिना रोक-टोक के प्रवेश कराओ ।

दौवारिक : जैसी अमात्य की आज्ञा । (निकल कर पुरुष के पास जा कर)
भट्ट ! अमात्य राक्षस ये रहे । उनके पास चले जाओ !

[दौवारिक का प्रस्थान]

करभक : (राक्षस के पास पहुंच कर) अमात्य की जय ।

राक्षस : (देख कर) स्वगत ! भद्र करभक ! बैठो ।

१. नाटककार प्रस्तावना में छोटा विषय लेकर परिकर को प्रतिमुख संधि में चाहता हुआ गर्भ संधि में दुर्बोध अर्थ को गुप्त रीति से दिखाता, विमर्श संधि में उस पर विचार करता तथा विवर्हण संधि में विस्तृत वस्तु का संकोच करता है ।

करभक : जैसी आज्ञा अमात्य ! (भूमि पर बैठता है।)

राक्षस : (स्वगत) इस दूत को मैंने किस काम में लगाया था, वह काम की बाढ़ में याद नहीं आता है। (सोचता है।)

[हाथ में बैत लिये एक और पुरुष का प्रवेश]

पुरुष : हटो आर्य्यो ! हटो ! हटो ! हटो ! क्या नहीं देख पाते ? सुमेरु पर्वत पर रहने वाले और कल्याणमय नरेशों का दर्शन भी पुण्य न करने वालों को दुर्लभ है, फिर उनके पास रहना तो बिल्कुल ही दुर्लभ है। (आकाश देख कर) आर्य्य ! क्या कहा कि क्यों हटाया जा रहा है ? आर्य्य ! कुमार मलयकेतु यह सुन कर कि अमात्य राक्षस के सिर में दर्द है, उन्हें देखने आ रहे हैं। इसलिये हटाया जा रहा है।

[पुरुष का प्रस्थान]

[मलयकेतु के पीछे भागुरायण और कञ्चुकी का प्रवेश]

मलयकेतु : (वीर्य श्वास ले कर स्वगत) आज पिता को गये^१ दस महीने बीत गये। बेकार यत्न करते हुए मैंने अभी तक उनके लिये जलाञ्जलि भी नहीं दी। मैंने यह पहले ही प्रण किया है कि छाती पीटने से जिस मेरी माता का रत्न-कंकण टूट गया, दुपट्टा अपने स्थान से खिसक कर गिर पड़ा, निरंतर हाहाकार करके करुण विलाप करते समय केश अस्तव्यस्त और रूखे हो गये, मैं अपनी उसी माता को तरह जब तक शत्रुओं की स्त्रियों को भी नहीं बना दूँगा, तब तक पिता का तर्पण नहीं करूँगा। और व्यर्थ क्यों सोचूँ ? या तो वीर की भाँति पिता के रास्ते पर चलूँगा, या अपनी माता की आँखों के आँसुओं

को शत्रु-स्त्रियों की आँखों में पहुँचा दूँगा । (प्रगट) आर्य्य जाजलि ! मेरी आज्ञा से अनुयायी राजाओं से कहो कि मैं अचानक ही अकेला जा कर अमात्य राक्षस के प्रति प्रेम प्रकट करूँगा । अतः मेरे पीछे चलने का कष्ट छोड़ दें ।

कञ्चुकी : जो आज्ञा कुमार ! (घूम कर, आकाश को देख कर) हे राजा-गण ! कुमार की आज्ञा है कि उनके पीछे कोई न आये । (देख कर प्रसन्नता से) कुमार ! कुमार ! लीजिये । आज्ञा सुनते ही राजा लौट गये । देखिये ! कुमार ! कुछ राजाओं ने कड़ी लगाम खींच दी, जिसके कारण चंचल, टेढ़ी और ऊँची गर्दन वाले घोड़े रुक गये और खुरों से धरती खोदते आकाश को फाड़े दे रहे हैं । रुक जाने से ऊँचे हाथियों के घण्टे रुक गये । वे भी लौट चले । देव ! यह भूमिपाल समुद्र की भाँति आपकी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते ।

मलयकेतु : आर्य्य जाजलि ! तुम भी परिजनों के साथ लौट जाओ । अकेले भगुरायण ही मेरे साथ चलें ।

कञ्चुकी : जो आज्ञा कुमार !

[परिजनों के साथ प्रस्थान]

मलयकेतु : मित्र भागुरायण ! यहाँ आये भद्रभट आदि ने मुझ से निवेदन किया था कि हम अमात्य राक्षस के कारण आपके आश्रय नहीं लेते, वरन् आपके सेनापति शिखरसेन और दुष्ट मंत्री के बस में हुए चंद्रगुप्त से उदासीन हो कर हम केवल आपके गुणों का आश्रय लेते हैं । मैंने बहुत सोचा पर समझ नहीं पाया कि उनका मतलब क्या था !

भागुरायण : कुमार ! यह तो कठिन नहीं है । विजय की ओर उन्मुख, अच्छे गुणी का आश्रय लेना तो ठीक ही है ।

मलयकेतु : मित्र भागुरायण ! अमात्य राक्षस ही हमारे सबसे प्रिय और सबसे अधिक भला चाहने वाले हैं ।

भागुरायण : कुमार ! ठीक बात है । किंतु अमात्य राक्षस को चाणक्य से वैर है, चंद्रगुप्त से नहीं । हो सकता है कभी चंद्रगुप्त अहंकारी चाणक्य को असह्य समझ कर हटा दे, तब अमात्य राक्षस की जो नंदकुल में श्रद्धा है, वह चंद्रगुप्त को भी उसी वंश का जान कर, अपने मित्रों के प्राण बचाने की ओर प्रेरित करे और चंद्रगुप्त से संधि कर ले ! चंद्रगुप्त भी कहीं सोच ले कि आखिर तो मेरे पिता का पुराना सेवक है, संधि को मान ही ले । ऐसे समय में फिर कुमार हमारा विश्वास नहीं करेंगे, यही शायद इन लोगों का मतलब हो सकता है ।

मलयकेतु : हो सकता है । मित्र भागुरायण ! अमात्य राक्षस के भवन का मार्ग दिखाओ ।

भागुरायण : इधर से कुमार । आइये । (दोनों घूमते हैं ।) कुमार ! यही अमात्य राक्षस का घर है । प्रवेश करें ।

मलयकेतु : चलो ।

[दोनों प्रवेश करते हैं ।]

राक्षस : (स्वगत) ओह ! याद आ गया ! (प्रगट) भद्र ! क्या तुम कुसुमपुर में स्तनकलश नामक वैतालिक से मिले ?

करभक : जी हाँ अमात्य !

मलयकेतु : मित्र भागुरायण ! कुसुमपुर की बात हो रही है । यहीं से सुनना चाहिये । क्योंकि मंत्री लोग अपनी स्पष्ट और स्वतंत्र रूप से होने वाली बातों के रहस्य खुल जाने के डर से राजाओं के सामने उसे और ही ढंग से कह देते हैं ।

भागुरायण : जो आज्ञा !

राक्षस : भद्र ! क्या वह कार्य्य सिद्ध हुआ ?

करभक : आपकी कृपा से सिद्ध हुआ ।

मलयकेतु : मित्र भागुरायण ! कौन-सा कार्य्य !

भागुरायण : कुमार ! अमात्य का समाचार बड़ा गंभीर है, इससे क्या पता चलेगा ! अतः ध्यान से सुनिये ।

राक्षस : भद्र ! पूरी बात कहो ।

करभक : अमात्य ! सुनिये । आपने मुझे आज्ञा दी थी कि करभक ! मेरी आज्ञा से स्तनकलश नामक वैतालिक से कहना कि दुरात्मा चाणक्य के आज्ञा भङ्ग करने पर तुम चंद्रगुप्त को उकसाना ।

राक्षस : तब ?

करभक : तब मैंने पाटलिपुत्र जाकर आपका आदेश स्तनकलश को सुना दिया ।

राक्षस : अच्छा ! फिर ?

करभक : इसी बीच चंद्रगुप्त ने नंदकुल के नाश से दुखी नागरिकों को संतोष देने को कौमुदी महोत्सव मनाने की आज्ञा दे दी । बहुत दिनों के बाद मनाये जाते उत्सव की बात सुन कर प्रजा ने उसका वैसे ही स्वागत किया जैसे अपना कोई संबंधी आया हो ।

राक्षस : (आँखों में आँसू भर कर) हा देव ! नन्द ! संसार को आनंद देने वाले राजाओं के चंद्रमा ! आपके बिना; कुमुदों को आनंद देने वाले चन्द्रमा और नागरिकों को सुख देने वाले चंद्रगुप्त के रहते हुए भी क्या तो कौमुदी और क्या उसका महोत्सव ! हाँ ! भद्र ! फिर ?

करभक : अमात्य ! तब नयनरंजन उत्सव का चंद्रगुप्त के न चाहने पर भी दुरात्मा चाणक्य ने निषेध कर दिया । इसी समय स्तन-कलश ने चंद्रगुप्त को आवेश दिलाने वाली पद्यावली पढ़ी ।

राक्षस : क्या कविता थी ?

करभक : उसका भाव था कि चंद्रगुप्त राजाधिराज है, उसकी आज्ञा का उल्लंघन करके कौन बचेगा । बात लग गई ।

राक्षस : (सहर्ष) धन्य ! स्तनकलश ! धन्य ! तुमने ठीक समय पर सूत्रपात किया । इससे अवश्य ही फल निकलेगा, साधारण व्यक्ति भी अपने आनंदोत्सव में बाधा नहीं सह पाता, फिर लोकोत्तर तेजस्वी नरेन्द्र की तो बात ही क्या है !

मलयकेतु : यही बात है ।

राक्षस : अच्छा, तब !

करभक : तब आज्ञा के उल्लंघन से चंद्रगुप्त रुष्ट हो गया और आपके गुणों की खूब प्रशंसा करके उसने दुरात्मा चाणक्य को उसके पद से हटा दिया ।

मलयकेतु : सखे भागुरायण ! चंद्रगुप्त ने राक्षस के गुणों की प्रशंसा करके बड़ा स्नेह दिखाया ।

भागुरायण : कुमार ! गुणों की प्रशंसा उतनी नहीं थी, जितना था चाणक्य का अपमान करना ।

राक्षस : भद्र ! केवल कौमुदी महोत्सव ही दोनों के मनमुटाव का कारण है, या कोई और भी है ?

मलयकेतु : मित्र भागुरायण ! चंद्रगुप्त के और किसी क्रोध के कारण को जानने में इसे क्या लाभ है ?

भागुरायण : कुमार ! लाभ यही है कि अत्यंत बुद्धिमान चाणक्य

अकारण ही चंद्रगुप्त को रुष्ट क्यों करेगा ? और इतने भर से कृतज्ञ चंद्रगुप्त भी गौरव का उल्लंघन नहीं करेगा । इसलिये चाणक्य और चंद्रगुप्त का जो भेद होगा, उसके पीछे कोई बड़ी बात अवश्य होगी ।

करभक : अमात्य ! चाणक्य पर चंद्रगुप्त के क्रोध का कारण और भी है ।

राक्षस : क्या ? क्या है ?

करभक : सबसे पहले तो यही कि उसने आपकी और कुमार मलय-केतु की भागते समय क्यों उपेक्षा कर दी ।

राक्षस : (सहर्ष) मित्र शकटदास ! अब चंद्रगुप्त मेरे हाथ में आ जायेगा । अब चंदनदास बंधन से छूटेगा । तुम्हारा पुत्र और स्त्री से मिलन होगा और जीवसिद्धि आदि के क्लेश भी दूर होंगे ।

भागुरायण : (स्वगत) सचमुच, जीवसिद्धि का कष्ट दूर हो जायेगा ।

मलयकेतु : मित्र भागुरायण ! 'अब चंद्रगुप्त मेरे हाथ में आ जायेगा' का क्या मतलब हो सकता है ?

भागुरायण : और क्या होगा ? चाणक्य से अलग चंद्रगुप्त को उखाड़ने में यह कोई लाभ नहीं देखता ।

राक्षस : भद्र ! अधिकार छितने पर चाणक्य कहाँ गया ?

करभक : वहीं पाटलिपुत्र में ही रहता है ।

राक्षस : (घबरा कर) भद्र ! वहीं रहता है ? तपस्या करने वन में नहीं गया या उसने फिर कोई प्रतिज्ञा नहीं की ?

करभक : अमात्य ! सुना जाता है कि वह तपोवन में जायेगा ।

राक्षस : (घबरा कर) शकटदास ! यह कुछ समझ में नहीं आता ।

जिसने पृथ्वी के स्वामी नंद के द्वारा भोजन के आसन से उठाये जाने के अपमान को नहीं सहा, वह अत्यंत गर्वीला चाणक्य स्वयं चंद्रगुप्त के द्वारा किया तिरस्कार कैसे सह गया ?

मलयकेतु : मित्र भागुरायण ! चाणक्य तपोवन जाये या फिर प्रतिज्ञा करे, इसमें इसका क्या स्वार्थ है ?

भागुरायण : यह तो समझना कठिन नहीं कुमार ! जैसे-जैसे दुरात्मा चाणक्य चंद्रगुप्त से दूर होगा, वैसे-वैसे इसका भी स्वार्थ सधेगा ।

शकटदास : अमात्य ! इतना सोच-विचार मत करिये । यह संभव है । चंद्रमा की कांति-सी प्रभामयी चूड़ामणि सिर पर धारण करने वाले राजाओं के सिर पर जो मौर्य चरण रखता है वह अपने ही आदमियों द्वारा अपनी आज्ञा का उल्लंघन कैसे सह सकता है ? महाक्रोधी चाणक्य ने भी पहले दैववश ही सफलता पाई है, वह जानता है और स्वयं अपने आचरण से दुखी है । आगे परिणाम में कहीं असफलता न मिले, इसी भय से उसने दुबारा प्रतिज्ञा नहीं की ।

राक्षस : मित्र शकटदास ! ठीक है । अब जाओ और करभक को भी विश्राम दो ।

शकटदास : जो आज्ञा (करभक के साथ प्रस्थान)

राक्षस : मैं भी कुमार से मिलना चाहता हूँ ।

मलयकेतु : (पास जा कर) मैं स्वयं ही आपसे मिलने आ गया हूँ ।

राक्षस : (देख कर) अरे ! कुमार ही आ गये ! (आसन से उठ कर) कुमार ! इस आसन पर विराजें ।

मलयकेतु : मैं बैठता हूँ । आप भी बैठें ।

[दोनों उचित आसनों पर बैठते हैं ।]

आर्य्य ! सिर के दर्द का क्या हाल है ?

राक्षस : जब तक कुमार के नाम से अधिराज शब्द न जुड़ जायेगा तब तक सिर का दर्द कैसे कम होगा !

मलयकेतु : यह तो आपने मान ही लिया है, अतः क्या दुर्लभ है ? सेना इकट्ठी हो चुकी है, पर शत्रु पर आपत्तिकाल की प्रतीक्षा करते हम कब तक यों ही उदासीन बैठे रहेंगे ?

राक्षस : कुमार ! अब समय क्यों बिताया जाये ? शत्रुओं पर विजय पाने को चढ़ाई करिये ।

मलयकेतु : क्या शत्रु पर कोई आपत्ति आई है, ऐसा समाचार आया है ?

राक्षस : जी हाँ, आया है ।

मलयकेतु : क्या ?

राक्षस : मंत्री की खबर है । चंद्रगुप्त चाणक्य से अलग हो गया ।

मलयकेतु : बस यही ?

राक्षस : कुमार ! और राजाओं को तो यह विरोध वैसा विरोध नहीं भी हो सकता है, परंतु चंद्रगुप्त की यह बात नहीं ।

मलयकेतु : आर्य्य ! क्या विशेषकर चंद्रगुप्त का ही ?

राक्षस : क्या कारण है कि...

मलयकेतु : चंद्रगुप्त की प्रजा केवल चाणक्य के दोषों से ही विरक्त है ? चंद्रगुप्त से प्रजा को पहले भी स्नेह था, और अब चाणक्य के हटाये जाने पर भी है ! बल्कि बढ़ गया होगा !

राक्षस : ऐसा नहीं है, कुमार ! वहाँ दो तरह के लोग हैं । एक वह

प्रजा है जो चंद्रगुप्त के साथ उठी थी, दूसरी है वह जिसे नंदकुल से प्रेम है। चंद्रगुप्त के साथ उठने वाली प्रजा ही को चाणक्य के दोषों से विरक्ति है, नन्दकुल में अनुरक्त प्रजा तो अपना आश्रय खो कर अमर्ष से भरी हुई है। चंद्रगुप्त ने पितृकुल जैसे नंदवंश का नाश कर दिया, पर अब करे भी क्या, यही सोचती चंद्रगुप्त का साथ देती है। अपने बल से शत्रु को पराजित करने में आप जैसे समर्थ राजा को पा कर शीघ्र ही वह चंद्रगुप्त को छोड़ कर आपका आश्रय ग्रहण करेगी। हमीं कुमार के सामने इसके उदाहरण हैं।

मलयकेतु : तो क्या यह मंत्रि-विरोध ही चंद्रगुप्त की हार का कारण है या कोई और भी अमात्य !

राक्षस : कुमार ! बहुतों का क्या करना है ? यही प्रधान कारण है।

मलयकेतु : अमात्य ! यही प्रधान है ? क्या चंद्रगुप्त राज-काज किसी और मंत्री या संबंधी पर छोड़ कर इसकी काट कर सकता है ?

राक्षस : वह असमर्थ है कुमार !

मलयकेतु : क्यों ?

राक्षस : स्वायत्तसिद्धि^१ और उभयादत्तसिद्धि^२ राजा भले ही ऐसा कर लें पर चंद्रगुप्त के लिये यह संभव नहीं। वह दुरात्मा नित्य ही राज्य-कार्य में मंत्रियों के अधीन रहता है। अन्धा मनुष्य सांसारिक व्यवहार से दूर रह कर क्या कर सकता है ? राजलक्ष्मी मंत्रि-शक्ति और राजा-शक्ति इन दो पर ही पाँव रख कर ठहरती है। परंतु यदि कोई भी भार सहने में असमर्थ हो गया तो राज्यश्री स्त्री-सुलभ स्वभाव के कारण निर्बल को छोड़

१. अपने अधीन राजकाज चलाने वाला।

२. मंत्री और राजा मिल कर राजकाज चलाने वाले।

देती है। मंत्री के अधीन राजा, मंत्री से अलग हो कर सांसारिक व्यवहार से अनजान रहने के कारण उस दुधमुँह बच्चे-सा होता है जिसके मुँह से माता का स्तन हटा लिया जाये। वह क्षण भर भी अपनी सत्ता नहीं जमा सकता।

मलयकेतु : (स्वगत) भाग्य से मैं ऐसा मंत्री-पराधीन नहीं हूँ।
(प्रगट) अमात्य ! यह तो ठीक है, पर अनेक अभियोगों के आधार रहने पर भी केवल मंत्री के बल पर टिक कर ही कौन शत्रु को जीत सकता है ?

राक्षस : आप तो कुमार ! केवल सिद्धि की ही सोचें। बलवान सेना के साथ आप युद्ध को तत्पर रहेंगे, कुसुमपुर में प्रजा नन्द में अनुरक्त होगी, चाणक्य पदच्युत है ही और चंद्रगुप्त नाममात्र का राजा रह गया, और मेरे स्वाधीन होने पर.....

[इतना कह कर संकोच और लज्जा से चुप रह जाता है, फिर बदल कर कहता है —]

देव ! इस समय रण-मार्ग की आज्ञाएँ देने को केवल आप की इच्छा ही चाहिये।

मलयकेतु : अमात्य ! यदि आप शत्रु पर आक्रमण ठीक समझते हैं तो विलंब ही क्यों हो ? यह भीमाकार गज खड़े ही हैं जिनके गण्डस्थल से मद-जल टपक रहा है, जिस पर भौरे गूँज रहे हैं। अपने दाँतों से तट-भूमि को फोड़ने वाले, सिंघूर से लाल मेरे ये सैकड़ों काले-काले गजेन्द्र तो ऐसे प्रचण्ड हैं कि खरतर उमड़कर बहते हुए, वृक्षों से श्यामल दीखने वाले, चंचल लहरों से गर्जमान, कगारों को घोर रव करके तोड़ते इस महानद शोण को ही पी कर खाली कर दें ! हाथियों के यह भुँड के भुँड गंभीर गर्जन करते हुए कुसुमपुर को घेरने में ऐसे ही समर्थ हैं

जैसे सजल मेघों की माला विंध्याचल को घेर लेती है ।

[भागुरायण सहित मलयकेतु का प्रस्थान]

राक्षस : अरे कौन है यहाँ ?

पुरुष : (प्रवेश) आज्ञा दें अमात्य !

राक्षस : प्रियंवदक ! पता लगाओ कि द्वार पर कोई ज्योतिषी भी है ?

पुरुष : जो आज्ञा (बाहर जा कर एक क्षपणक को देख कर, फिर प्रवेश कर)

अमात्य ! एक क्षपणक...

राक्षस : (अपशकुन समझ कर स्वगत) सबसे पहले क्षपणक ही दीखा ?

प्रियंवदक : जीवसिद्धि है ।

राक्षस : (प्रगट) उसका वीभत्सदर्शन* दूर करके प्रवेश कराओ ।

प्रियंवदक : जो आज्ञा ।

[प्रस्थान : क्षपणक का प्रवेश]

क्षपणक : मोह जैसे रोग के लिये अर्हत^१ रूपी वैद्य की बातें मानो । उनकी बात पहले तो कड़वी लगती है, परंतु फिर पथ्य बन जाती है । (पास जा कर) उपासक ! धर्मलाभ हो !

राक्षस : भदन्त^२ ! हमारे प्रस्थान करने के समय को निकालिये ।

क्षपणक : (सोच कर) उपासक ! मुहूर्त निश्चित कर लिया ।
दुपहर से सातवीं तिथि का भाग बीतने पर पूर्ण चंद्रमा वाली शुभ बेला है । उत्तर से दक्षिण को जाते समय नक्षत्र तुम्हारी दाईं तरफ आ जायेगा । और सूर्यास्त होगा तथा पूर्ण चंद्रोदय भी ; तो बुध के लग्न में होने पर, केतु के उदय से अस्त में

* वीभत्स, गंदा, घिनौना । सम्भवतः क्षपणक गंदे रहते थे । अन्यथा बिना देखे ही राक्षस क्यों समझता कि वह घिनौना-सा होगा !

१. तीर्थकर २. पूज्य ।

पहुँचने में यात्रा करना शुभ है ।

राक्षस : भदन्त ! तिथि ही ठीक नहीं बैठती !

क्षपणक : उपासक ! एक गुना तिथि फल देती है उससे चौगुना फल नक्षत्र और उससे भी चौंसठ गुना फल लग्न से मिलता है । ज्योतिष शास्त्र ऐसा कहता है । राशि शुभ फल देने वाली है । बुरे ग्रहों का संसर्ग छोड़ कर चंद्रमा के संपर्क में जा कर तुम स्थायी लाभ प्राप्त करोगे !

राक्षस : भदन्त ! और ज्योतिषियों से भी राय मिला लीजिये ।

क्षपणक : आप विचार करते रहें उपासक । मैं अपने घर जाता हूँ ।

राक्षस : क्या भदन्त ! क्रुद्ध हो गये ?

क्षपणक : नहीं मैं कुपित नहीं हुआ ।

राक्षस : तो कौन हुआ ?

क्षपणक : भगवान् यम । जो तुम मुझ जैसे अपने अनुकूल व्यक्ति को छोड़ कर दूसरों को प्रमाण मानते हो !

[प्रस्थान]

राक्षस : प्रियंवदक ! क्या समय हो गया ?

प्रियंवदक : जो आज्ञा, देखता हूँ । (प्रस्थान करके फिर प्रवेश कर)
सूर्य्य भगवान् अस्त होने वाले हैं ।

राक्षस : (आसन से उठ कर सोचते हुए देख कर) अरे ! सहस्ररश्मि भगवान् सूर्य्य अस्त होना चाहते हैं ! जब सूर्य्य प्रबल हो कर उदित हुआ था तब उपवन के सारे वृक्ष छाया समेत पास हो गये थे । अब ताप के अस्त होते समय ये सब दूर हो गये, जैसे धनहीन स्वामी को स्वार्थी सेवक छोड़ देते हैं ।

[सबका प्रस्थान]

[चौथा अंक समाप्त]

पाँचवाँ अंक

[मुद्रित लेख और आभूषणों की पिटारी लिये
सिद्धार्थक का प्रवेश]

सिद्धार्थक : आश्चर्य ! परम आश्चर्य ! चाणक्य की नीति-लता देश-काल के घड़ों और बुद्धि-जल के निर्भरों से सींचे जाने पर बड़े फल लायेगी । मैंने, आर्य चाणक्य ने जैसा कहा था वैसे ही शकटदास से लेख लिखवा कर अमात्य राक्षस की मुद्रा लगा ली है । इस आभूषण की पिटारी पर भी वही मुद्रा है, अब पाटलिपुत्र चलना है । चलूँ । (घूम कर और देख कर) अरे क्षपणक आ रहा है ? इसके दर्शन से जो अपशकुन होगा उसे मैं सूर्य के दर्शन करके दूर करता हूँ ।

[क्षपणक का प्रवेश]

क्षपणक : हम अर्हतों को प्रणाम करते हैं, जिन्होंने अपनी गंभीर बुद्धि से लोकोत्तर तथा स्तुत्य मार्गों से सिद्धि प्राप्त की है ।

सिद्धार्थक : भदन्त ! प्रणाम करता हूँ ।

क्षपणक : उपासक ! धर्म लाभ हो ! मैं तुम्हें यात्रा को तैयार देख रहा हूँ ?

सिद्धार्थक : भदन्त ने कैसे जाना ?

क्षपणक : इसमें क्या जानना है उपासक ! तुम्हारे प्रस्थान का शुभ मुहूर्त तुम्हारे हाथ पर लिखा हुआ दिख रहा है ।

सिद्धार्थक : भदन्त ने ठीक समझा । बताइये न ? आज कैसा दिन है ?

क्षपणक : (हँस कर) उपासक ! अब सिर मुँडामुँडू कर नक्षत्र पूछ रहे हो ?

सिद्धार्थक : भदन्त ! अभी ऐसा क्या हो गया ? अनुकूल होगा तो जाऊँगा, आप बताइये, न होगा तो लौट जाऊँगा ।

क्षपणक : उपासक ! पर इस समय मलयकेतु के शिविर में अनुकूल और प्रतिकूल यात्रा का प्रश्न ही कहाँ ? तुम्हारे पास प्रमाण-पत्र हो, तभी जा सकते हो ।

सिद्धार्थक : भदन्त ! यह कब से लागू हुआ ?

क्षपणक : उपासक ! सुनो । पहले तो मलयकेतु के शिविर में लोग बेरोक-टोक आते-जाते थे । पर अब हम कुसुमपुर के पास आ गये हैं । इसलिये बिना मुद्रांकित प्रमाणपत्र के कोई नहीं आ-जा सकता । इसलिये अगर तुम्हारे पास भागुरायण का प्रमाणपत्र हो तो मजे से जाओ, वरना लौट कर मन मार कर बैठे रहो । गुल्मनायक से हाथ-पाँव बँधवाकर राजकुल के सामने उपस्थित न हो ।

सिद्धार्थक : भदन्त ! आप क्या नहीं जानते कि मैं अमात्य राक्षस का मनोरंजन करने वाला और रहस्य जानने वाला उनका पार्श्ववर्ती सिद्धार्थक हूँ ? मेरे पास मुद्रा भी न हो, तो भी मुझे रोक कौन सकता है ?

क्षपणक : उपासक ! राक्षस का हो या पिशाच का मनोरंजन करने

वाला हो ! पर तू बिना मुद्रांकित प्रमाणपत्र के नहीं जा सकता ।

सिद्धार्थक : भदन्त ! क्रुद्ध न हों । कह दें कि मेरा कार्य सिद्ध हो !

क्षपणक : उपासक ! जाओ ! तुम्हारा कार्य सफल हो । मैं भी भागुरायण से पाटलिपुत्र जाने को प्रमाणपत्र लेने जा रहा हूँ ।

[दोनों का प्रस्थान]

[प्रवेशक का अंत]

[भागुरायण तथा उसके पीछे एक पुरुष का प्रवेश]

भागुरायण : (स्वगत) अरे ! आर्य्य चाणक्य की नीति भी कैसी विचित्र है ! कभी तो अनुमान से पता भी चलता है, कभी समझ में ही नहीं आती । कभी तो सब पर छा जाती है, कभी पता भी नहीं चलता । कभी बहुफला, कभी कम फल देने वाली; नीतिज्ञों की नीति तो नियति की भाँति ही बड़ी विचित्र होती है । (प्रगट) भद्र भासुरक ! कुमार मलयकेतु मुझे दूर नहीं रखना चाहते, इसलिये इसी सभा-मंडप में आसन बिछाओ ।

पुरुष : लीजिये बिछा दिया । अब आर्य्य बैठें ।

भागुरायण : यदि कोई मुद्रांकित प्रमाणपत्र लेने आवे तो उसे यहीं ले आना ।

पुरुष : जो आज्ञा आर्य्य !

[प्रस्थान]

भागुरायण : (स्वगत) कितना दुख है कि हमसे इतना प्रेम करने पर

भी इस मलयकेतु को वंचित कर दिया जायेगा; कितना कठिन है। किन्तु जो मनुष्य परतंत्र है वह क्षणभंगुर धन के लिये किसी धनी के हाथों अपना शरीर बेच देता है; वह वंश, लज्जा, यश, सम्मान कुछ भी नहीं रख पाता। अच्छे-बुरे के विचार से दूर वह तो केवल स्वामी की आज्ञा को मानता है। वह क्या कभी सोच भी सकता है कि यह ठीक है या नहीं ?

[प्रतीहारी के आगे-आगे मलयकेतु का प्रवेश]

मलयकेतु : (स्वगत) उफ़ ! राक्षस के बारे में कितना सोचने पर भी मेरी बुद्धि कुछ निर्णय नहीं कर पाती ! कौटिल्य से अपमानित, यह नंदकुल से इतना प्रेम करने वाला राक्षस क्या सचमुच चंद्रगुप्त का मित्र बन जायेगा ? केवल इसलिये कि मौर्य भी नंदकुल में जन्मा है ? या यह मेरे प्रीतिभरे व्यवहार की दृढ़ता को पूर्ण करता हुआ अपनी प्रतिज्ञा को ही सच्ची कर देगा ? मेरा मन तो जैसे कुम्हार के चक्के पर रखा घूम रहा है। कैसे भ्रम में पड़ गया हूँ (प्रगट) विजये ! भागुरायण कहाँ हैं ?

प्रतीहारी : कुमार ! वह शिविर से बाहर जाने वालों को मुद्रित पत्र दे रहे हैं।

मलयकेतु : विजये ! उसका मुँह इधर है। तू चलना बंद कर दे मुहूर्त भर को। मैं पीछे से जा कर इसकी आँखें अपने हाथों से बंद कर दूँ।

प्रतीहारी : जैसी कुमार की आज्ञा।

भासुरक : (प्रवेश कर) आर्य्य ! मुद्रा चाहता है एक क्षपणक। आपसे मिलना चाहता है।

भागुरायण : उसे ले आओ।

भासुरक : जो आज्ञा आर्य्य !

[प्रस्थान]

क्षपणक : (प्रवेश कर) उपासकों की धर्मवृद्धि हो ।

भागुरायण : (देख कर, स्वगत) अच्छा ! यह राक्षस का मित्र जीवसिद्धि है । (प्रगट) भदन्त ! क्या राक्षस के ही किसी काम से आ रहे हो ?

क्षपणक : (कानों पर हाथ रख कर) पाप शान्त हो, पाप शान्त हो ! उपासक ! मैं तो वहाँ जाना चाहता हूँ जहाँ राक्षस और पिशाच का नाम भी सुनाई न दे ।

भागुरायण : भदन्त ! अपने मित्र पर बड़ा प्रीतिभरा क्रोध दिखा रहे हो ! राक्षस ने तुमसे ऐसा क्या अपराध कर दिया है ?

क्षपणक : उपासक ! राक्षस ने मेरा कोई अपराध नहीं किया । मैं अभागा तो अपने ही कार्य्य पर लज्जित हूँ ।

भागुरायण : मेरे कौतूहल को बढ़ा रहे हो भदन्त !

मलयकेतु : (स्वगत) मेरे को भी !

भागुरायण : क्या बात है ? मुझे बताओ न ?

मलयकेतु : (स्वगत) मैं भी सुनूँ ।

क्षपणक : उपासक ! यह बात सुनने योग्य नहीं है । सुन कर भी क्या लाभ होगा !

भागुरायण : भदन्त ! कोई गुप्त बात हो तो रहने दो ।

क्षपणक : गुप्त कुछ नहीं है ।

भागुरायण : तो फिर बता दो न ?

क्षपणक : नहीं, बहुत क्रूर बात है । कैसे कहूँ ।

भागुरायण : भदन्त ! मैं तुम्हें मुद्रा भी नहीं दूँगा ।

क्षपणक : (स्वगत) इस सुनने के इच्छुक सत्पात्र से कहना ठीक है ।

(प्रगट) क्या करूँ ? कहता हूँ उपासक ! सुनो ! मैं पहले पाटलिपुत्र में रहता था । तब मुझ अभागे की राक्षस से मित्रता हो गई । तभी राक्षस ने गुप्तरूप से विषकन्या का प्रयोग करके देव पर्वतेश्वर को मरवा डाला ।

मलयकेतु : (आंखों में आंसू भर, स्वगत) क्या उन्हें राक्षस ने मरवाया, चाणक्य ने नहीं ?

भागुरायण : हाँ भदन्त ! फिर ?

क्षपणक : तब मुझे राक्षस का मित्र समझ कर दुरात्मा चाणक्य ने अपमानित करके नगर से निकाल दिया । अब कुकृत्य करने में कुशल यह राक्षस कोई ऐसा षड्यंत्र कर रहा है कि मैं इस संसार से ही निकाल दिया जाऊँ ।

भागुरायण : भदन्त ! पर हमने तो सुना है कि कहा हुआ आधा राज्य न देना पड़ जाये, इसलिये चाणक्य ने ही उन्हें मरवाया था, राक्षस ने नहीं !

क्षपणक : (कान बंद करके) पाप शांत हो, पाप शांत हो ! चाणक्य तो विषकन्या का नाम भी नहीं जानता । यह दुष्ट कृत्य तो उसी नीच बुद्धि राक्षस ने किया है ।

भागुरायण : भदन्त ! कंसी दुःख की बात है ! लो यह मुद्रा लो । चलो कुमार के पास चलें ।

मलयकेतु : मित्र ! वह हृदय-विदारक बात मैंने सुन ली, जो शत्रु राक्षस के बारे में उसके मित्र ने कही है । आज पिता की मृत्यु का शोक भी दुगने वेग से बढ़ रहा है ।

क्षपणक : (स्वगत) अरे ! अभागे मलयकेतु ने सुन लिया ! मैं कृतार्थ हो गया ।

[प्रस्थान]

मलयकेतु : (प्रत्यक्ष-सा आकाश में देखता हुआ) राक्षस ! यह भी ठीक है । तुझे मित्र जान कर पूरी तरह से तुझ पर विश्वास करके, तुझ पर सारा कार्यभार छोड़ने वाले पिता को, तूने उनके परिवार के आँसुओं के साथ ही, धरती पर गिरा दिया । तू सचमुच राक्षस है ।

भागुरायण : (स्वगत) आर्य्य चाणक्य ने कहा है कि राक्षस के प्राणों की रक्षा करना । (प्रगट) कुमार ! आवेश में मत आइये । आप आसन पर बैठें । मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ ।

मलयकेतु : (बैठ कर) सखे ! क्या कहना चाहते हो ?

भागुरायण : कुमार ! राजनीतिज्ञों में शत्रुता, मित्रता, उदासीनता, यह सब मतलब से होती हैं । और लोगों की तरह वे लोग इच्छा से काम नहीं करते । उस समय सर्वार्थसिद्धि को राजा बनाने की जो राक्षस की इच्छा थी, उसमें चंद्रगुप्त से भी अधिक बलशाली और विरोधी स्वनामधन्य देव पर्वतेश्वर ही तो थे । ऐसी हालत में यदि राक्षस ने ऐसा क्रूर काम कर दिया तो यह कोई बड़ा दोष नहीं है । कुमार ! नीति में मित्र शत्रु और शत्रु मित्र बन जाता है । जीवित व्यक्ति को मृत्यु के मुख में डाल देते हैं जैसे जन्मान्तर में पहुँचा दिया हो । इस बारे में राक्षस पर क्या ताना मारना ! जब तक नंद का राज्य नहीं मिले, उस पर कृपा करनी ही चाहिये । उसके बाद रखें या निकालें—आप इसके लिये स्वतंत्र हैं ।

मलयकेतु : अच्छा यही हो मित्र ! तुम ठीक सोचते हो । अमात्य राक्षस के वध से प्रजा में विक्षोभ हो जायेगा और फिर जीत भी संदेहास्पद हो जायेगी ।

पुरुष : (प्रवेश कर) कुमार की जय ! आपके शिविर-द्वार का अधिकारी दीर्घचक्षु निवेदन करता है कि हमने बिना मुद्रांकित पत्र लिये शिविर से भागते हुए एक पुरुष को पकड़ा है । उसके पास एक लेख है ।

भागुरायण : भद्र ! उसे ले आओ ।

पुरुष : जो आज्ञा आर्य्य !

[प्रस्थान]

[बंधे हुए सिद्धार्थक का एक पुरुष के साथ प्रवेश]

सिद्धार्थक : (स्वगत) गुण पर मोहित और दोषों से दूर करने वाली जननी जैसी स्वामिभक्ति को हम प्रणाम करते हैं ।

पुरुष : (पास आ कर) आर्य्य ! यही वह पुरुष है ।

भागुरायण : (उसे देख कर) भद्र ! यह कोई आगन्तुक है, या यहीं किसी का आश्रित है ?

सिद्धार्थक : आर्य्य ! मैं अमात्य राक्षस का सेवक हूँ ।

भागुरायण : तो भद्र ! तुम बिना मुद्रांकित प्रमाणपत्र लिये सेना से क्यों निकल रहे थे ?

सिद्धार्थक : आर्य्य ! काम की जल्दी से ।

भागुरायण : वह कैसी जल्दी है जिसके कारण तुम राजा की आज्ञा का उल्लंघन कर रहे थे !

मलयकेतु : सखे भागुरायण ! वह लेख ले लो इससे ।

[सिद्धार्थक भागुरायण को लेख देता है ।]

सिद्धार्थक : (लेख ले कर मुद्रा देख कर) कुमार ! यह तो राक्षस के नाम की अंकित मुद्रा है इस पर !

मलयकेतु : मुद्रा बिना तोड़े खोल कर दिखाओ ।

[भागुरायण ऐसे ही खोलता है । देता है ।]

मलयकेतु : (ले कर पढ़ता है ।) “स्वस्ति ! किसी जगह से कोई किसी विशेष व्यक्ति से निवेदन करता है कि हमारे शत्रु को हटा कर आपने जो सच कहा था, उसे करके दिखाया है । अब आप अपने से मिल जाने वाले हमारे मित्रों को सन्धि के लिये निश्चित हुई वस्तुएँ दे कर इनसे प्रेम उत्पन्न करें । ये आश्रय विहीन उपकृत हो जाने पर आपकी सेवा को तत्पर रहेंगे । हमें मालूम है कि आप इसे भूले नहीं हैं, परन्तु हम फिर भी याद दिलाते हैं । इनमें से कुछ तो शत्रु के खजाने और हाथियों को चाहते हैं और कुछ लोग राज्य चाहते हैं । आपके भेजे तीनों अलंकार मिले । हमने भी लेख के उत्तर में जो भेजा है उसे आप स्वीकार करें और मौखिक समाचार अत्यंत विश्वस्त सिद्धार्थक से सुनें ।”

मित्र भागुरायण ! इस लेख का क्या अर्थ निकला ?

भागुरायण : भद्र सिद्धार्थक ! यह किसका लेख है ।

सिद्धार्थक : आर्य्य ! मैं नहीं जानता ।

भागुरायण : अरे धूर्त ! स्वयं जिसे ले जा रहा है, उसी को नहीं जानता ?

जाने दे सब बात । यह बता कि मौखिक बातें तुझे किसको सुनानी हैं ?

सिद्धार्थक : (भयभीत-सा) आपको ।

भागुरायण : हमको ही ?

सिद्धार्थक : मैं पकड़ा गया हूँ । नहीं समझता क्या कहूँ ?

भागुरायण (क्रोध से) अब समझ जायेगा । भद्र भासुरक ! इसे बाहर ले जा कर तब तक मार लगाओ जब तक यह सब कुछ कह न डाले ।

भासुरक : जो आज्ञा आर्य्य !

[सिद्धार्थक के साथ प्रस्थान; फिर प्रवेश करके]

भासुरक : आर्य्य ! पिटते समय इसके बगल से मुद्रांकित आभूषणों की यह पिटारी गिरी है ।

भागुरायण : (देख कर) इस पर राक्षस की मुद्रा है ।

मलयकेतु : यही वह छिपी बात है । मुद्रा बचा कर खोलो ।

[भागुरायण खोल कर दिखाता है ।]

मलयकेतु : (देख कर) अरे ! यह तो वे ही आभूषण हैं जो मैंने राक्षस के पहनने के लिये अपने शरीर से उतार कर दिये थे । तब तो यह पत्र चंद्रगुप्त के लिये ही होगा । स्पष्ट हो गया ।

भागुरायण : कुमार ! अभी संदेह का निर्णय हुआ जाता है । भद्र ! और लगाओ मार !

पुरुष : जो आज्ञा आर्य्य ! (जा कर, फिर लौट कर) आर्य्य ! वह पिट कर कहता है कि मैं कुमार को स्वयं बता दूँगा ।

मलयकेतु : उसे ले आओ !

पुरुष : जो कुमार की आज्ञा !

[जा कर फिर सिद्धार्थक के साथ प्रवेश]

सिद्धार्थक : (पाँव पर गिर कर) कुमार ! मुझे अभय दें । दया करें ।

मलयकेतु : भद्र ! भद्र ! पराधीन को अभय ही होता है । पर मुझे सारी बातें ठीक-ठीक बता दो ।

सिद्धार्थक : कुमार ! सुनिये ! मैं अमात्य राक्षस का यह लेख चंद्रगुप्त के पास ही ले जा रहा हूँ ।

मलयकेतु : भद्र ! मुझे मौखिक सन्देश बताओ ।

सिद्धार्थक : कुमार ! मुझे अमात्य राक्षस ने यह संदेश दिया है—
सुनें ! 'मेरे इन पाँच राजाओं ने आपसे पहले ही संधि कर ली

है—कौलूत चित्रवर्मा, मलयाधिप सिंहनाद, काश्मीर नरेश पुष्कराक्ष, सिंधुराज सिंधुसेन और पारसीकाधीश मेघाक्ष । कौलूत, मलयाधिप, और काश्मीर नरेश तो मलयकेतु के राज्य को बाँट लेना चाहते हैं, सिंधुसेन और मेघाक्ष, हाथी और कोष चाहते हैं । जैसे आपने चाणक्य को हटा कर मुझसे प्रीति उत्पन्न की है, वैसे ही इन राजाओं का भी काम प्रतिज्ञानुसार पहले ही हो जाना चाहिये ।

मलयकेतु (स्वगत) अच्छा ! चित्रवर्मा आदि भी भीतर ही भीतर मुझसे द्वेष करते हैं ? तभी राक्षस के प्रति उनकी इतनी भक्ति है ? **(प्रगट)** विजये ! मैं अमात्य राक्षस से मिलना चाहता हूँ ।
प्रतीहारी : जो आज्ञा कुमार !

[प्रस्थान]

[अपने घर में आसन पर बैठे राक्षस का चितित अवस्था में प्रवेश ।

सामने सेवक पुरुष खड़ा है ।]

राक्षस : (स्वगत) हमारी सेना चन्द्रगुप्त की सेना से कहीं अधिक प्रबल है, किंतु फिर भी मेरे मन का संदेह दूर नहीं होता । जो सेना शत्रुविनाश में शक्तिशालिनी, साथ चलने योग्य, अनुकूल और शत्रु-विरुद्ध हो, वही विजय की साधक बन सकती है । पर जो सेना धमकी दे कर अपनी ओर कर ली जा सके, और जिसमें दोनों ओर के लोग मिल रहे हों, जो अपने ही शत्रुओं से भरी हो, उसी पर विश्वास कर लेने से स्वामी सदैव ही वादी की भाँति हार जाता है । चंद्रगुप्त से विरक्त हो कर आये भद्रभट्ट आदि ने हमारा पक्ष लिया है । वे हमारा भेद जान गये हैं । इस पर संदेह नहीं करना चाहिये । **(प्रगट)** प्रियंवदक ! मेरी आज्ञा से कुमार के अनुयायी राजाओं से कहो कि अब दिन पर दिन

कुसुमपुर पास होता जा रहा है। अतः वे कायदे से इस तरह से चलें—खस, मगध के राजा और सैनिक मेरे पीछे चलें। यवन-पतियों के साथ गांधार देश की सेनाएँ उद्योग सहित चलें। चेदि और हूणों के साथ शक राजा पीछे चलें और बाकी जो कौलूत, काश्मीराधिप, पारसीकाधिप, सिंधुराज तथा मलयाधिप हैं, वे मार्ग में कुमार के चारों ओर रह कर चलें।

प्रियंवदक : जो आज्ञा अमात्य !

[प्रस्थान]

प्रतीहारी : (प्रवेश कर) अमात्य की जय ! अमात्य ! कुमार आपसे मिलना चाहते हैं।

राक्षस : भद्रे ! तनिक ठहर। अरे कोई है ?

पुरुष : (प्रवेश कर) आज्ञा दें अमात्य !

राक्षस : भद्रे ! शकटदास से कहो कि अमात्य को जो कुमार ने आभूषण पहनाये थे, वे नहीं रहे, तो अब उनके दर्शन बिना आभूषणों के कैसे किये जा सकते हैं ? अतः जो तीन आभूषण खरीदे थे, उनमें से एक दे दें।

पुरुष : जो आज्ञा ! (जा कर, फिर प्रवेश कर) लीजिये अमात्य !

राक्षस : (देख कर, पहन कर उठते हुए) भद्रे ! राजा के पास ले चलो। मार्ग दिखलाओ।

प्रतीहारी : अमात्य ! इधर से आइये।

राक्षस : (स्वगत) अधिकार निर्दोष व्यक्ति के लिए भी कितने भय का कारण है ? पहले तो सेवक को स्वामी का ही भय होता है, फिर स्वामी के पास रहने वाले मंत्री से। ऊँचे पद पर रहने वाले सेवकों को देख कर असज्जन ईर्ष्या करते हैं और उन्नत बुद्धि के लोग उन्हें गिराना चाहते हैं। ऐसी जगह रहने वाले को

यही लगा करता है कि अब गया, अब गया ।

प्रतीहारी : (घूम कर) अमात्य ! वह कुमार हैं । आप पास जाइये ।

राक्षस : (देख कर) ओह ! कुमार बैठे हैं । पाँव के अंगूठे को ऐसे क्या टकटकी बाँधे देख रहे हैं ! कार्यभार से मुख भुका कर हाथ पर रखे बैठे हैं । लगता है बहुत चिंतित हैं । दृष्टि मानो कुछ भी नहीं देख रही है । (पास जा कर) कुमार ! विजयी हों । विजयी हों ।

मलयकेतु : प्रणाम करता हूँ आर्य्य ! यहाँ आसन पर विराजें !

[राक्षस बैठता है ।]

मलयकेतु : अमात्य ! बहुत दिनों से आपको न देख कर चिंता हो गई थी ।

राक्षस : कुमार ! आक्रमण के प्रबंध में इतना व्यस्त था कि आज आपका उपालंभ सुनना ही पड़ा ।

मलयकेतु : तो अमात्य ! यात्रा की तैयारी कैसे की है ? बतायें ।

राक्षस : मैंने, कुमार, आपके अनुयायी राजाओं को ऐसा आदेश दिया है कि आगे मैं रहूँगा, मेरे पीछे रहेंगे खस और मगध के ससैन्य राजा । यवन-पतियों के साथ गान्धार सेनाएँ रहेंगी । चेदि और हूणों के साथ शक राजा पीछे रहेंगे और कौलूत, काश्मीर—पारसीक—सिंधु—मलयाधिप आपके चारों ओर रहेंगे ।

मलयकेतु : (स्वगत) समझता हूँ । जो चंद्रगुप्त की सेवा में तत्पर हैं, वे ही मेरे चारों ओर रहेंगे ? (प्रगट) आर्य्य ! क्या कोई इधर कुसुमपुर भी आने-जाने वाला व्यक्ति है ?

राक्षस : कुमार ! अब आना-जाना बंद हो गया । बस पाँच-छः दिनों में हम वहीं पहुँच जायेंगे ।

मलयकेतु : (स्वगत) सब जानता हूँ । (प्रगट) तो फिर इस आदमी को लेख देकर कुसुमपुर क्यों भेजा है ?

राक्षस : (देख कर) अरे ! सिद्धार्थक ! क्या बात है भद्र !

सिद्धार्थक : (रोता हुआ लज्जित-सा) अमात्य प्रसन्न हों । बहुत पिटने के कारण मैं आपके रहस्य को छिपा नहीं सका ।

राक्षस : भद्र ! कैसा रहस्य ? मैं नहीं जानता ।

सिद्धार्थक : यही तो कहता हूँ, मुझे बहुत मारने से.....

[डर से इतना ही कह कर सिर झुका लेता है ।]

मलयकेतु : भागुरायण ! स्वामी के सामने डर और लज्जा से यह बोल नहीं सकेगा । तुम ही आर्य्य से कहो ।

भागुरायण : जो आज्ञा कुमार ! अमात्य ! यह कहता है कि अमात्य ने मुझे लेख और मौखिक संदेश ले कर चंद्रगुप्त के पास भेजा है ।

राक्षस : भद्र ! सिद्धार्थक ! यह सत्य है ?

सिद्धार्थक : (लज्जित-सा) बहुत पिटने पर मैंने ऐसा कह दिया ।

राक्षस : कुमार ! यह झूठ है । पिटने वाला क्या न कह देगा ?

मलयकेतु : भागुरायण ! वह लेख दिखाओ और मौखिक संदेश यह स्वयं कहेगा ।

भागुरायण : (लेख पढ़ कर सुनाता है ।)

राक्षस : कुमार ! यह शत्रु की चाल है ।

मलयकेतु : लेकिन जब लेख की बात को पूरा करने को आपने यह आभूषण भेजा है, तब यह शत्रु की चाल कैसे हो सकती है !

[आभूषण दिखाता है ।]

राक्षस : (देख कर) कुमार ! इसे मैंने नहीं भेजा । यह आपने मुझे दिया था और मैंने इनाम में इसे इस सिद्धार्थ को दे दिया था ।

भागुरायण : अमात्य ! कुमार ने अपने शरीर से उतार कर जो

आभूषण भेजा था, वह आपने ऐसे ही दे डाला ?

मलयकेतु : आपने लिखा है कि मौखिक संदेश भी विश्वस्त सिद्धार्थक से सुन लें ।

राक्षस : कैसा संदेश ! कैसा लेख ! यह मेरा है ही नहीं ।

मलयकेतु : तो यह मुद्रा फिर किसकी है ?

राक्षस : धूर्त लोग कपट मुद्रा भी तो बना लेते हैं ।

भागुरायण : कुमार ! अमात्य ठीक कहते हैं ! सिद्धार्थक ! यह लेख किसने लिखा है ?

[सिद्धार्थक राक्षस की ओर देख कर सिर

नीचा करके चुप खड़ा हो जाता है ।]

भागुरायण : अब बिना पिटे हुए ही कह दे । बोल !

सिद्धार्थक : आर्य्य ! शकटदास ने !

राक्षस : कुमार ! यदि शकटदास ने लिखा है, तब तो मैंने ही लिखा है ।

मलयकेतु : विजये ! मैं शकटदास से मिलना चाहता हूँ ।

प्रतीहारी : जो कुमार की आज्ञा ।

भागुरायण : (स्वगत) आर्य्य चाणक्य का चर पहले से जो बात तय नहीं है, वह कभी नहीं कह सकता । यदि शकटदास आ कर कह दे कि यह लेख मैंने पहले ही लिखा था, और सारी बात साफ़ कर दे, तो मलयकेतु फिर राक्षस का विरोध करना बंद कर देगा । (प्रगट) कुमार ! शकटदास कभी भी अमात्य राक्षस के सामने यह स्वीकार नहीं करेगा कि यह उसी का लेख है । अतः उसका लिखा कोई और लेख मँगाइये । दोनों के अक्षरों को मिलाते ही पता चल जायेगा ।

मलयकेतु : विजये ! यही कर ।

भागुरायण : कुमार ! मुद्रा भी मँगाइये ।

मलयकेतु : दोनों ले आ ।

प्रतीहारी : जो आज्ञा कुमार ! (बाहर जाती है, फिर प्रवेश करके)

कुमार ! शकटदास के हाथ का लिखा और मुद्रा, यह रहे दोनों ।

मलयकेतु : (दोनों को देख कर, मिला कर) आर्य्य ! अक्षर तो मिलते हैं ।

राक्षस : (स्वगत) मिलते हैं, पर शकटदास मेरा मित्र है, इसलिये कैसे मिल सकते हैं ? क्या उसी ने लिखा है ? क्या नश्वर धन के लोभ से उसने ऐसा किया ? या स्त्री-पुत्र से मिलने के लोभ से ? चिरस्थायी यश का उसने लोभ छोड़ कर स्वामि-भक्ति को भुला दिया ? पर मुद्रा उसके हाथ में रहती है । सिद्धार्थक उसका मित्र है । और पत्रों के अक्षर मिल ही रहे हैं ! निश्चय ही भेदनीति में कुशल शत्रुओं ने उसे मिला लिया और स्त्री-पुत्र के मिलनातुर शकटदास ने स्वामिभक्ति को छोड़ कर ही ऐसा काम किया है !

मलयकेतु : आर्य्य ! आपने लिखा है कि जो तीन आभूषण भेजे गये थे वे मिल गये ! क्या उन्हीं में से एक को पहने हुए हैं ? (देख कर स्वगत) अरे ! क्या यह पिता का ही पहना हुआ आभूषण नहीं है (प्रगट) आर्य्य ! यह आभूषण कहाँ से लिया ?

राक्षस : व्यापारियों से मोल लिया ।

मलयकेतु : विजये ! इस अलंकार को तुम पहचानती हो ?

प्रतीहारी : (देख कर आँसू भरे नयनों से) क्यों नहीं पहचानती कुमार !

यह तो स्वनामधन्य देव पर्वतेश्वर का पहना हुआ है !

मलयकेतु : (रोते हुए) हा तात ! हा पिता ! आभूषणों के प्रेमी, हे कुलभूषण यह वही अलंकार है जिससे आप चंद्रकांति से

सुशोभित नक्षत्रों से भरी शरद कालीन संध्या की भाँति मनोहर लगते थे ।

राक्षस : (स्वगत) क्या कहा ? यह पर्वतेश्वर का पहना हुआ आभूषण है ? (प्रगट) स्पष्ट है कि यह भी चाणक्य के भेजे व्यापारियों ने हमें बेचा है ।

मलयकेतु : आर्य्य ! पिता के पहने, और विशेषकर चंद्रगुप्त के भेजे अलंकारों का व्यापारियों से खरीदना क्या ठीक लगता है ? व्यापारी तो चंद्रगुप्त है, जो आप जैसे लोभी और क्रूर हमारे शरीरों को इनका मूल्य बना कर उसे चुका रहे हैं !

राक्षस : (स्वगत) अब शत्रु की कूटनीति बड़ी पक्की हो गई । अगर कहूँ कि यह लेख मेरा नहीं है तो यह कौन मानेगा । मुद्रा तो मेरी है ! शकटदास ने मित्रता में विश्वासघात कर दिया, इसे भी कौन मानेगा ? आभूषण की खरीद पर विश्वास ही कौन कर सकता है ? अब तो अपराध मान लेना ही अच्छा है । बेकार असज्जत उत्तर दे कर भी क्या होगा ?

मलयकेतु : मैं पूछता हूँ.....

राक्षस : (आँखों में आँसू भर कर) कुमार ! जो आर्य्य हो उससे पूछिये, हम तो अब अनार्य्य हो गये ।

मलयकेतु : चंद्रगुप्त आपके स्वामी का पुत्र है । तो मैं भी आपका सेवा में लगा मित्र का पुत्र हूँ । वह आपको धन देगा, परन्तु यहाँ आपकी आज्ञा से मुझे धन मिलता है । वहाँ मंत्री हो कर भी आप पराधीन होंगे पर यहाँ आपका प्रभुत्व है । कौन-सी इच्छा बच गई थी आपकी कि उसने आपको अनार्य्य बना दिया ?

राक्षस : कुमार ! ऐसी अयुक्त बात कह कर आपने तो मेरा निर्णय

भी कर दिया । चंद्रगुप्त मेरे स्वामी का पुत्र है, पर आप भी मेरी सेवा में लगे मित्र के पुत्र हैं । वह मुझे धन देगा । परंतु यहाँ मेरी आज्ञा से आपको धन मिलता है । वहाँ मंत्री हो कर भी मैं पराधीन रहूँगा, पर यहाँ मेरा प्रभुत्व है । कौन-सी इच्छा बच गई थी मेरी कि उसने मुझे अनार्य्य बना दिया ?

मलयकेतु : (लेख और आभूषण को पिटारी दिखा कर) यह क्या है ?

राक्षस : (रोता हुआ) दुर्भाग्य की क्रीड़ा । जिन नंदों से स्नेह कर हमने देह समर्पित की थी, उन्होंने अपने पुत्र की भाँति हमसे प्रेम किया था । उन गुण-ग्राहक राजा को ही जब मार डाला गया, तब यह विधाता का ही दोष है और किसी का नहीं ।

मलयकेतु : (क्रोध से) क्या अब भी आप दुर्भाग्य पर दोष डाल कर अपना अपराध छिपाते हैं ? अनार्य्य ! कृतघ्न ! पहले तो विष-कन्या भेज कर मेरे विश्वासी पिता को मार डाला और अब महत्वाकांक्षा से शत्रु का मंत्री-पद और उसका प्रेम पाने को हम लोगों को मांस की भाँति बेचने को तैयार कर लिया है ?

राक्षस : (स्वगत) यह एक घाव पर दूसरी चोट है । (प्रगट कान बंद कर) पाप शांत हो ! पाप शांत हो ! मैंने विषकन्या का प्रयोग नहीं किया । पर्वतेश्वर के बारे में मेरा कोई पाप नहीं ।

मलयकेतु : तो फिर पिता को किसने मारा ?

राक्षस : यह विधाता से पूछिये ।

मलयकेतु : (क्रोध से) विधाता से पूछें । जीवसिद्धि क्षणिक से नहीं ?

राक्षस : (स्वगत) क्या जीवसिद्धि भी चाणक्य का गुप्तचर था ?

हाय शोक ! शत्रु ने तो मेरे हृदय पर भी अधिकार कर लिया !

मलयकेतु : (क्रोध से) भासुरक ! सेनापति शिखरसेन को मेरी आज्ञा दो कि जो इस राक्षस से मित्रता करके, हमसे द्रोह करके, चंद्रगुप्त की सेवा करना चाहते हैं, उनमें कौलूत चित्रवर्मा, मलयाधिप सिंहनाद, और काश्मीर नरेश पुष्कराक्ष मेरा राज्य बाँट लेना चाहते हैं, भूमि चाहते हैं, और सिंधुराज सुषेण और पारसीकाधीश मेघाक्ष हाथी चाहते हैं, इसलिये पहले तीनों को गहरे गड्ढों में डाल कर रेत से पाट दो और बाकी दो को हाथी के पैरों से कुचलवा दो ।

पुरुष : जो आज्ञा कुमार । (प्रस्थान)

मलयकेतु : (क्रोध से) राक्षस ! राक्षस ! मैं विश्वासघाती राक्षस नहीं ! मलयकेतु हूँ ! चले जाओ ! और सब तरह से चंद्रगुप्त की सेवा करो ! तुम्हारे साथ आये चाणक्य और चंद्रगुप्त को ठीक वैसे ही उखाड़ने में समर्थ हूँ जैसे बुरी नीति धर्म, अर्थ काम, तीनों का नाश कर देती है ।

भागुरायण : कुमार ! समय नष्ट न करिये । शीघ्र ही कुसुमपुर को घेर लेने की अपनी सेनाओं को आज्ञा दीजिये । लोधकुसुम के मकरंद से युक्त गौड़ देशीय स्त्रियों के गालों को धूमिल करती, भ्रमरों-सी कुञ्चित मेचक केशों की श्यामलता को दूर करती हुई हमारे घोड़ों के खुरों से उड़ाई हुई धूलि, हाथियों के मद-जल से सन-सन कर शत्रुओं के सिरों पर गिरे ।

[सबके साथ मलयकेतु का प्रस्थान]

राक्षस : (उद्वेग से) हाय धिक्कार है ! कैसा कष्ट है । बिचारे चित्रवर्मा आदि भी मारे गये । तो क्या राक्षस मित्र-नाश चाहता है, शत्रु-विनाश नहीं ? मैं अभागा अब करूँ भी क्या ? क्या तपोवन चला जाऊँ ? परंतु शत्रुता भरे मेरे मन को क्या तप से

शांति मिल सकेगी ? तो क्या स्वामी नंदों के पथ पर चलूँ ? परंतु यह तो स्त्रियों का-सा काम है । क्या खड्ग ले कर शत्रुओं पर टूट पड़ूँ ? परंतु क्या यह ठीक होगा ? नहीं । चंदनदास बंधन में है । उसे छुड़ाने को मेरा मन व्याकुल हो रहा है । यदि यह व्याकुलता मुझ कृतघ्न को न रोके तो युद्ध ही ठीक होगा ।

[प्रस्थान]

[पाँचवाँ अंक समाप्त]

छठा अंक

[अलंकार पहने हुए प्रसन्न सिद्धार्थक का प्रवेश]

सिद्धार्थक : मेघश्याम केशिहन्ता विष्णु की जय ! सज्जनों को आनंद देने वाले चंद्रमा जैसे चंद्रगुप्त की जय ! सेनाहीन आक्रमण करने वाले शत्रुओं का नाश करनेवाली आर्य्य चाणक्य की नीति की जय ! बहुत दिनों से अपने बहुत पुराने मित्र सुसिद्धार्थक से नहीं मिल पाया (घूम कर) मैं उससे मिलने चला हूँ और वह इधर ही आ रहा है। चलो उसके पास।

[सुसिद्धार्थक का प्रवेश]

सुसिद्धार्थक : जब मित्रों से वियोग हो जाता है तब मन के भीतर बसे हुए वैभव भी आपानकों* और महोत्सवों में पीड़ा दे कर खेद उत्पन्न करते हैं। मैंने सुना है कि मलयकेतु के शिविर से प्रिय मित्र सिद्धार्थक आया है। उसे ही ढूँढ़ूँ। (घूम कर, पास जा कर) अरे वह यहीं है ?

सिद्धार्थक : (देख कर) वह आ गया। (पास जा कर) मित्र, अच्छे तो हो ?

* पीने-पिलाने की गोष्ठियाँ। मदिरा पीने की गोष्ठियाँ पुराने समय में भारत में बहुत प्रचलित थीं।

[दोनों आपस में प्रेम से आलिंगन करते हैं।]

सुसिद्धार्थक : अरे मित्र ! मुझे सुख कहाँ । तुम जैसा परममित्र ही प्रवास में चला गया । और बिना कहे ही इतने दिन तक कि पता भी न चला ?

सिद्धार्थक : प्रिय सखे ! नाराज क्यों होते हो ? मुझे देखते ही आर्य्य चाणक्य ने आज्ञा दे दी कि सिद्धार्थक ! जाओ ! प्रियदर्शन चन्द्रगुप्तदेव को यह प्रिय संदेश सुनाओ । इसलिये महाराज को सुना कर, प्रसन्न करके तब तुमसे मिलने तुम्हारे ही घर जा रहा हूँ ।

सुसिद्धार्थक : मित्र ! यदि मैं सुन सकता हूँ तो बताओ, कि तुमने प्रियदर्शन चन्द्रगुप्त को क्या सुनाया !

सिद्धार्थक : मित्र ! क्या कोई ऐसी बात भी है जो मैं तुम्हें न सुना सकूँ ? सुनो ! आर्य्य चाणक्य की नीति से दुरात्मा मलयकेतु ने राक्षस को पद से हटा कर, चित्रवर्मा आदि प्रमुख राजाओं को मार डाला । तब राजाओं ने मलयकेतु के बारे में सोचा कि यह दुरात्मा तो विवेकहीन है, अपने-अपने राज्यों की रक्षा के लिये, मलयकेतु के शिविर से अपने बचे-खुचे साथी इकट्ठे किये और अपने-अपने राज्यों को लौट गये । तब भद्रभट्ट, पुरुषदत्त, हिङ्गूरात, बलगुप्त, राजसेन, भागुरायण, रोहिताक्ष, और विजय वर्मा आदि प्रधान पुरुषों ने मलयकेतु को गिरफ्तार कर लिया ।

सुसिद्धार्थक : मित्र ! प्रजा में तो चर्चा है कि भद्रभट्ट आदि देव चंद्रगुप्त के विरुद्ध हो कर मलयकेतु के आश्रय में चले गये थे ! यह कैसा अयोग्य कवि का रचा हुआ नाटक है, जिसमें आरम्भ में कुछ और है और अन्त में कुछ और !

सिद्धार्थक : देव के समान अनजान काम करती है आर्य्य चाणक्य की नीति । उसे सौ बार नमस्कार करो ।

सुसिद्धार्थक : अच्छा फिर ?

सिद्धार्थक : तब आर्य्य चाणक्य ने विशाल सेना के साथ निकल कर राजा-शून्य संपूर्ण शत्रु सेना पर अपना अधिकार कर लिया ।

सुसिद्धार्थक : कहाँ ? मित्र !

सिद्धार्थक : वहीं जहाँ मद-जल बरसाते गर्विले मेघों से श्यामल हाथी विचार रहे थे और कशाघात से डरे चपल तुरंग अपने सवारों को भी चंचल करते हुए युद्ध के लिये तैयार खड़े थे ।

सुसिद्धार्थक : चलो ! हुआ । पर सबके सामने इस तरह मंत्रि-पद छोड़ कर आर्य्य चाणक्य ने उसे फिर से क्यों स्वीकार कर लिया ?

सिद्धार्थक : बहुत भोले हो तुम मित्र ! जिस आर्य्य चाणक्य की बुद्धि को अमात्य राक्षस भी नहीं समझ सका, उसे तुम यों ही जानना चाहते हो !

सुसिद्धार्थक : मित्र ! अब अमात्य राक्षस कहाँ है ?

सिद्धार्थक : मित्र ! जब प्रलय का-सा कोलाहल बढ़ता चला गया तब अमात्य राक्षस मलयकेतु के शिविर से निकल पड़ा । उंदुर नामक दूत उसका पीछा कर रहा है । वह यहीं कुसुमपुर में आया है । यह स्वयं उंदुर ने आर्य्य चाणक्य से कहा है ।

सुसिद्धार्थक : मित्र ! नंद-राज्य को लौटा लेने में लगा राक्षस एक बार कुसुमपुर छोड़ जाने पर अब बिल्कुल असफल हो कर यहाँ क्यों लौट आया है ?

सिद्धार्थक : मित्र ! मैं अनुमान करता हूँ कि चंदनदास के स्नेह के कारण ।

सुसिद्धार्थक : मित्र ! क्या सचमुच ही चंदनदास के स्नेह से ? क्या चंदनदास छूट सकेगा ?

सिद्धार्थक : मित्र ! उस अभागे का छुटकारा कहाँ ? वह आर्य्य चाणक्य की आज्ञा से शीघ्र ही हम दोनों द्वारा वध्यस्थल पर ले जा कर मारा जायेगा ।

सुसिद्धार्थक : (क्रोध से) मित्र ! क्या आर्य्य चाणक्य के पास और कोई घातक नहीं रहा कि उन्होंने हम लोगों को ऐसे नीच कार्य में लगाया है ?

सिद्धार्थक : मित्र ! कौन ऐसा है जो जीवित रहने की इच्छा भी करे और आर्य्य चाणक्य के भी विरुद्ध हो जाये ? बस चले चलो ! चाण्डाल का वेश धारण करके चंदनदास को वध-भूमि में ले चलें ।

[दोनों का प्रस्थान]

[प्रवेशक समाप्त]

[हाथ में रस्सी लिये एक पुरुष का प्रवेश]

पुरुष : छः गुणों* से गुँथी हुई, विजय के उपायों से बँटी हुई, शत्रु

* गुण = रस्सी, अर्थात् ६ रस्सियाँ बँटकर एक बनी रस्सी । गुण का दूसरा अर्थ तो स्पष्ट ही है । ६ गुण राजनीति में है—साम, दाम, दण्ड, भेद इत्यादि ।

को बाँधने में कुशल आर्य्य चाणक्य की नीति-रज्जु* की जय ! (घूम-फिर कर देख कर) आर्य्य चाणक्य के उंदुर नामक दूत ने यही जगह बताई थी, जहाँ अमात्य राक्षस के आ पहुँचने की आशा है । (देख कर) क्या अमात्य राक्षस ही मुख को कपड़े में छिपाये इधर आ रहे हैं ? तो मैं इस पुराने उद्यान के वृक्षों की आड़ में छिप कर देखूँ कि वे कहाँ रुकते हैं ।

[घूम कर बैठ जाता है । मुँह ढँके हुए ताकि कोई पहचान न ले,
सशस्त्र राक्षस का प्रवेश]

राक्षस : (आँखों में आँसू भर कर) हाय कष्ट ! दारुण कष्ट ! आश्रय-विनष्ट हो जाने पर कुलटा की तरह कातर हो कर राज्यलक्ष्मी परपुरुष के पास चली गई । स्नेह त्याग करने पर अपने पूर्ववर्तियों का अनुगमन करती प्रजा भी उसी लक्ष्मी के साथ हो ली और विश्वसनीय पुरुषों ने भी असफलता के कारण काम का भार उठाना छोड़ दिया । करते भी क्या ! वे स्वयं सिर कटे हाथियों की तरह हो गये हैं । नंद जैसे भुवनेश्वर को छोड़कर दुराचारिणी राज्यलक्ष्मी ढीठ चरित्रहीना शूद्रा की भाँति छल से वृषल के पास जा कर स्थिर हो गई है । हम ही क्या करें ? दुर्भाग्य भी तो शत्रु की तरह हमारे हर एक प्रयत्न को असफल करने में लगा हुआ है ? चाणक्य के हाथों न मारे जाने योग्य देव नंद के स्वर्गवासी होने पर पर्वतेश्वर का आश्रय ले कर प्रयत्न किया पर वह भी मर गया । उसके बाद उसके पुत्र की सहायता ली किन्तु फिर भी असफलता ही मिली । मुझे तो लगता है कि भाग्य ही नंदवंश का शत्रु है, वह ब्राह्मण चाणक्य नहीं । स्लेच्छ मलयकेतु भी कैसा बुद्धिहीन है । जड़ समेत खुद

* रज्जु=रस्सी । यहाँ रस्सी की नीति से तुलना की गई है ।

जाने वाले प्रभु की जो अभी तक सेवा कर रहा है वह राक्षस जीते जी शत्रुओं से कैसे संधि कर सकता है ? उस मूर्ख, अच्छे-बुरे की पहचान न करने वाले म्लेच्छ मलयकेतु ने यह भी नहीं सोचा ? नहीं । दुर्भाग्य से अस्त मनुष्य की बुद्धि पहले से ही उल्टी हो जाती है । लेकिन राक्षस अब भी शत्रु के हाथ पड़कर मर जायेगा, परंतु उस चंद्रगुप्त से सन्धि कभी नहीं करेगा । अच्छा है यह प्रतिज्ञा पूर्ण न होने का कलंक, परंतु वैरी का छल से भरा अपमान तो असह्य है । (चारों ओर आँसू भरी आँखों से देख कर) यह देव नंद के चरणों से पवित्र हुई कुसुमपुर की उपकंठ भूमि* है । यहीं प्रत्यंचा खींचने से ढीली पड़ी लगाम को कसकर पकड़ते हुए देव नंद ने घोड़े को खूब तेज दौड़ा कर अत्यंत चंचल लक्ष्यों को कौशल से बाण मार बेध दिया था । यहीं उद्यान की श्रेणियों में उन्होंने राजाओं के साथ बैठ कर विचार किया था । आज यही भूमियाँ मेरे हृदय को अत्यन्त क्लेश दे रही हैं । कहाँ जाऊँ मैं अभागा ! (देख कर) इसी जीर्ण उद्यान में चलूँ और किसी तरह चंदनदास का पता लगाऊँ । (घूम कर स्वगत) अरे ! पुरुष के उतार-चढ़ाव का कोई पता नहीं लगा सकता । जो पहले निकलता था तो लोग उसे एक दूसरे को ऐसे उंगलियाँ उठा कर दिखाते थे जैसे नया ही चंद्रमा हो, जो हजारों राजाओं से घिरा हुआ राजा की तरह ही कुसुमपुर से निकला करता था, वही मैं आज असफल हो कर इसी नगर में चोर की तरह डरता-डरता इस पुराने उपवन में चुपके-चुपके प्रवेश कर रहा हूँ । अरे, जिसके

* नगर के बाहर की जगह । Suburb. जिसे गाँवों में बृज भाषा में गौंडे की धरती कहते हैं ।

प्रसाद से यह सब होता था, अब वे ही नहीं रहे । (प्रवेश करके)
 ओह ! अब जीर्णोद्धान की वह शोभा कहाँ चली गई ? कितने
 परिश्रम से बनवाया प्रासाद था वह, नंदवंश की भाँति ही नष्ट
 हो गया । मित्र के वियोग से सूखे हुए हृदय की भाँति तालाब
 भी सूख गया दुर्भाग्य से ग्रस्त वृक्ष भी नीति की भाँति ही
 फलहीन हो गये और यहाँ की भूमि भी कुनीति के कारण
 सूखी की बुद्धि की तरह घास-पात से ढँक गई ! तीखे फरसों
 से इन वृक्षों के अंग काट दिये गये कबूतर की पंक्तियाँ नहीं
 यह तो उसके घावों को देख कर दुख से रोते हुए स्वजन हैं ।
 उसे दुखी जान कर उसास-सा लेते हुए साँप डोल रहे हैं । अपनी
 केंचुल क्या छोड़ते हैं, मानो घावों पर फाहा लगा रहे हैं । अंदर
 से सूख गये हैं यह वृक्ष, कीड़ों ने सब कुछ खा डाला है । टपकता
 रस है कि यह रो रहे हैं ! छायाहीन ये तो ऐसे लगते हैं जैसे
 विपत्तिग्रस्त कोई अब श्मशान में ले जाया जा रहा है !

इस टूटी शिला पर बैठ जाऊँ । अभागों को यह तो मिल ही जाती
 है । (बैठ कर और कान लगा कर सुन कर) अरे, यह शङ्ख पटहों से मिला
 हुआ नांदी शब्द कहाँ हो रहा है ? कितना प्रचण्ड शब्द है कि
 श्रोताओं के कान फाड़े दे रहा है । जब वह वहाँ समाया नहीं
 तो हवा पर चढ़ कर इधर आ रहा है । मानो दिशाओं का
 विस्तार देखने को यह चंचल हो उठा है । (सोच कर) हाँ,
 समझा ! यह मलयकेतु को गिरफ्तार करने से राजकुल (रुक
 कर ईर्ष्या और दुःख से) मौर्य-कुल का आनंद प्रगट कर रहा है ।
 (आँखों में आँसु भर कर) हाय दारुण कष्ट ! हाय रे क्लेश !
 वैव ने मुझे पहले शत्रु के वैभव की बात सुनाई । यहाँ ला कर

सब दिखाया और मुझे सुनाने को ही अब यह कठोर शब्द फैलाया है।

पुरुष : अब यह बैठ गये। अब मुझे भी आर्य्य चाणक्य की आज्ञा का पालन करना चाहिये।

[राक्षस की ओर न देख कर अपने गले में रस्सी का फंदा लगाने लगता है।]

राक्षस : (देख कर स्वगत) अरे ! यह कौन फाँसी लगा रहा है ? अवश्य यह कोई मेरे जैसा ही दुखी है। इस से पूछूँ । (पास जा कर, प्रगट) भद्र ! भद्र ! यह क्या कर रहे हो ?

पुरुष : (रोता हुआ) आर्य्य ! जो प्रिय मित्र का नाश होने पर मुझ जैसा अभागा करता है।

राक्षस : (स्वगत) मैंने पहले ही सोचा था कि कोई मुझ जैसा ही अभागा है ! (प्रगट) भद्र ! अरे मेरे जैसे अभागे ! यदि कोई बड़ी और गुप्त बातें न हों तो मुझे बताओ ! आखिर मरते क्यों हो ?

पुरुष : (देख कर) आर्य्य ! न वह रहस्य है, न कोई बड़ी बात ही। पर मेरा प्रिय मित्र मरने को है, इसी दुःख से मैं मरता हूँ। मुझे मरने दो, समय नष्ट न कराओ।

राक्षस : (दीर्घ श्वास ले कर स्वगत) शोक ! मित्र के दुःख से दुखी यह भी मेरी पुरुषार्थहीनता को देख कर मानो व्यंग्य कर रहा है। (प्रगट) यदि वह रहस्य नहीं है, जरा-सी बात है तो मुझे बताओ न ? दुःख का कारण क्या है ?

पुरुष : उफ़ ! कितना आग्रह है आर्य्य आपका ! क्या करूँ ? सुनाता हूँ। इस नगर में एक जिष्णुदास श्रेष्ठ मणिकार है।

राक्षस : (स्वगत) जिष्णुदास चंदनदास का परम मित्र है । (प्रगट)
उसका क्या हुआ ?

पुरुष : वह मेरा प्रिय मित्र है ।

राक्षस : (प्रसन्नता से स्वगत) अरे ! प्रिय मित्र है ! तब तो बहुत
पास का संबंध है । अरे ! अब चंदनदास का समाचार मिल
जायेगा । (प्रगट) तो क्या हुआ भद्र !

पुरुष : (आंसू भरी आँखों से) इस समय गरीबों को अपना धन बाँट
कर वह अग्नि-प्रवेश करने नगर के बाहर चला गया है । मैं भी,
इस समाचार को सुनने के पहिले ही, कि मेरा प्रिय मित्र मर
गया, यहाँ गले में फंदा लगा कर मर जाने आया हूँ ।

राक्षस : भद्र ! वह अग्नि-प्रवेश क्यों कर रहा है तुम्हारा मित्र ?
क्या वह किसी असाध्य रोग से पीड़ित है ?

पुरुष : नहीं आर्य्य ! नहीं ।

राक्षस : तो क्या अग्नि और विष की भाँति भयानक राजकोप से
पीड़ित है ?

पुरुष : नहीं ! आर्य्य ! नहीं ! चंद्रगुप्त के राज्य में ऐसी नृशंसता
नहीं है ।

राक्षस : तो क्या किसी स्त्री से प्रेम हो गया था ?

पुरुष : (कानों पर हाथ रख कर) आर्य्य ! पाप शांत हो ! पाप शांत
हो ! अत्यंत विनयशील वैश्यों के लिये यह सोचा भी नहीं जा
सकता और फिर जिष्णुदास के लिये ?

राक्षस : तो क्या वे भी तुम्हारी तरह प्रिय मित्र के विनाश के कारण
मर रहे हैं ?

पुरुष : हाँ आर्य्य ! यही बात है ।

राक्षस : (घबरा कर स्वगत) चंदनदास इसके मित्र का प्रिय मित्र

है । और प्रिय मित्र के विनाश के कारण ही वह मर रहा है ।
सच तो यह है कि प्रिय मित्र को चिंता मुझे व्याकुल कर उठी
है । (प्रगट) भद्र ! मुझे अपने मित्र के पवित्र चरित्र का पूरा
वर्णन सुनाओ ।

पुरुष : आर्य्य ! मैं अभागा अब मरने में और देर नहीं कर सकता ।

राक्षस : भद्र ! वह बात तो बताओ ।

पुरुष : क्या करूँ ! अच्छा कहता हूँ । सुनिये ।

राक्षस : सुन रहा हूँ भद्र !

पुरुष : आप जानते होंगे इस नगर में मणिकार चंदनदास श्रेष्ठ
रहता है ?

राक्षस : (खेद से स्वगत) मेरे विनाश का द्वार दुर्भाग्य ने खोला
है । अरे मेरे हृदय ! स्थिर रह ! तुझे अभी और भी विदारण
संवाद सुनना है । (प्रगट) भद्र ! कहते हैं वह बड़ा मित्र-
वत्सल है । उसको क्या हुआ ?

पुरुष : वह इस जिष्णुदास का परम मित्र है ।

राक्षस : (स्वगत) अरे हृदय ! वज्र सहने को तत्पर हो जा ! (प्रगट)
हाँ फिर !

पुरुष : आज जिष्णुदास ने प्रिय मित्र के स्नेह से चंद्रगुप्त से उचित
ही कहा !

राक्षस : क्या कहा ? कैसे ?

पुरुष : कहा—देव ! मेरे घर-परिवार पालने को काफ़ी धन है, उसे
ले कर उसके बदले में मेरे प्रिय मित्र चंदनदास को छोड़
दीजिये !

राक्षस : (स्वगत) धन्य ! जिष्णुदास ! धन्य ! तुमने मित्र-प्रेम
निबाहा । जिस धन के लिये पुत्र पिता को और पिता पुत्र को

शत्रु समझने लगता है, मित्र मित्रता छोड़ देते हैं, उसी धन को तुम अपने मित्र को मुक्त कराने के लिये उपयोग कर रहे हो, उसे दुःख की भाँति छोड़ रहे हो। तुमने तो व्यापारी स्वभाव ही उल्टा कर दिया ! (प्रगट) भद्र ! तब मौर्य ने क्या कहा ?

पुरुष : आर्य्य ! ऐसा कहने पर चंद्रगुप्त ने उससे कहा कि हमने धन के लिये चंदनदास को दंड नहीं दिया जिष्णुदास ! इसने अमात्य राक्षस का कुटुम्ब कहीं छिपा रखा है और हमने कई बार इससे माँगा पर इसने नहीं दिया। अब भी यदि उसे हमारे हाथ सौंप दे तो हम इसे छोड़ देंगे, अन्यथा प्राणदण्ड अवश्य मिलेगा। इसके बाद चंदनदास को वध्य-स्थान की ओर ले जाया जाने लगा। जिष्णुदास ने कहा कि इससे पहले कि मैं मित्र की मृत्यु की बात सुनूँ, मैं ही जो मर जाऊँ। वह अग्नि में जल मरने नगर के बाहर निकल गया। मैं भी जिष्णुदास के मरने का समाचार सुनने से पहले ही मर जाना चाहता हूँ। इसी से यहाँ आया हूँ।

राक्षस : भद्र ! चंदनदास अभी मारा तो नहीं गया ?

पुरुष : नहीं आर्य्य ! अभी नहीं। उससे बार-बार अमात्य राक्षस का कुटुम्ब माँगा जा रहा है, पर वह मित्र-प्रेम के कारण साफ़ मना कर रहा है। इसीलिये उसके मरने में देर हो रही है।

राक्षस : (सहर्ष, स्वगत) धन्य ! चंदनदास ! धन्य ! मित्र ! शरणागत की रक्षा करने में तुम शिवि की भाँति ही मित्र के न रहने पर कर रहे हो। तुम यश को अमर कर रहे हो। (प्रगट) भद्र ! भद्र ! तुम शीघ्र जाओ और जिष्णुदास को जलने से रोको। मैं भी चंदनदास को मरने से रोकता हूँ।

पुरुष : आर्य्य ! आप चंदनदास को मरने से कैसे रोक सकते हैं ?

राक्षस : (खड्ग खींच कर) और किसी से नहीं, इस खड्ग से । पौरुष-प्रिय खड्ग से । देखो । निर्मल आकाश-सा शुद्ध, रण-प्रेम के कारण पुलकित-सा, मेरे हाथ का मित्र, बल की अधिकता को संग्राम की कसौटी पर ही दिखाने वाला मेरा यह खड्ग मित्र प्रेम के कारण विवश बने हुए मुझको अब पुरुषार्थ दिखाने को उकसा रहा है ।

पुरुष : आर्य्य ! इसे मैंने सुन लिया कि चंदनदास बच सकता है, पर ऐसे समय में इस खड्ग के प्रयोग का परिणाम क्या होगा, यह तो सोचिये ! (देख कर चरणों पर गिर कर) क्या आप ही स्वनामधन्य अमात्य राक्षस हैं ? प्रसन्न होइये । कृपया मेरा संदेह दूर करिये !

राक्षस : भद्र ! मैं वही स्वामी-कुल-विनाश से दुखी, मित्र के विनाश का कारण जैसा नाम वैसा ही करने वाला अनार्य्य राक्षस हूँ ।

पुरुष : (प्रसन्नता से फिर पाँवों पर गिर कर) प्रसन्न हों ! प्रसन्न हों ! आश्चर्य्य ! देख कर ही कृतार्थ हो गया !

राक्षस : भद्र ! उठो ! समय नष्ट न करो । उठो ! जिष्णुदास से जा कर कहो कि राक्षस चंदनदास को मृत्यु से छुड़ाता है । इस खड्ग में मेरा पौरुष है । यह संग्राम मैं ही अपनी परख कर-वाता है ।

[घूमता है ।]

पुरुष : (फिर पाँवों पर गिर कर) प्रसन्न हों । अमात्य राक्षस के चरण प्रसन्न हों ! नगर में दुरात्मा चंद्रगुप्त ने शकटदास के वध की आज्ञा दी थी । उसे किसी ने वध्यस्थान से भगा कर कहीं और पहुँचा दिया । तब चंद्रगुप्त ने पूछा कि ऐसा प्रमाद क्यों हुआ ?

आर्य्य शकटदास का वध न होने के कारण उसने अपनी क्रोधाग्नि को वधियों की मृत्युरूपी जल से बुझाया। तब से वधिक जब किसी शस्त्रधारी को आगे या पीछे कहीं देखते हैं तो रास्ते में ही अपनी रक्षा करने को, वध्यस्थल में पहुँचने के पहले ही, वध्य पुरुष को मार डालते हैं। आप शस्त्र ले कर जायेंगे तो चंदनदास की शीघ्र मृत्यु का यही कारण बन जायेगा।

[प्रस्थान]

राक्षस : (स्वगत) उफ़ ! चाणक्य की नीति का मार्ग कौन समझ सकता है। यदि शत्रु शकटदास शत्रु की सम्मति से मेरे पास पहुँचाया गया, तो उसने घातकों को क्यों मरवा दिया ? और यह यदि जाल है तो उसने वैसा पत्र लिख कर नंदवंश का अहित क्यों किया ? कुछ भी समझ में नहीं आता। (सोच करके) नहीं, यह शस्त्र ले जाने का समय नहीं है। इससे तो मित्र का नाश शीघ्रतर हो जायेगा। नीति सोचने में समय नष्ट करना व्यर्थ है। इतने गहरे मित्र के प्रति मैं उदासीन भी नहीं हो सकता। अतः यही सही। मैं अपने मित्र की मुक्ति के लिये, अपने शरीर को दे कर, उसका मूल्य चुकाऊँगा।

[प्रस्थान]

[छठा अंक समाप्त]

सातवाँ अंक

[चांडाल का प्रवेश]

चांडाल : हटो आर्य्यो ! हट जाओ ! हट जाओ ! हटो मान्यो !

हटो ! यदि आप अपने जीवन, प्राण, वैभव, कुल, स्त्री आदि की रक्षा करना चाहते हैं, तो प्रयत्नपूर्वक राज्य का अहित करने की भावना का त्याग करिये । अपथ्य भोजन से मनुष्य को रोग या मृत्यु ही की प्राप्ति होती है, परन्तु राजद्रोह जैसे अपथ्य से तो सारा वंश ही नष्ट हो जाता है । यदि आपको विश्वास नहीं होता तो राजद्रोही, वध्यस्थान पर लाये बाल-बच्चों के साथ, इस श्रेष्ठ चंदनदास को देखिये । (आकाश देख कर) आर्य्य ! क्या कहा ? क्या पूछा कि चंदनदास के बचने का भी कोई रास्ता है ? कहाँ ! इस अभागे के बचने का रास्ता ही क्या है ? पर नहीं । यह भी हो सकता है ! यदि यह राक्षस के कुटुम्ब को दे दे । (फिर आकाश देख कर) क्या कहा ? यह शरणागत वत्सल कभी भी अपने प्राणों की रक्षा के लिये ऐसा बुरा काम नहीं करेगा ! आर्य्य ! यदि यही बात है तो इसकी मौत पक्की समझिये ! अब आप इसका क्या बचाव सोच सकते हैं ? लाभ भी क्या ?

[दूसरे चाण्डाल के आगे स्त्री-पुत्र के साथ वध्यवेश में सूली कंधे पर रखे हुए चंदनदास का प्रवेश]

चंदनदास : हा धिक् ! हा धिक् ! नित्य ही चरित्रभंग करने से डरे हुए मुझ जैसे आदमी की भी चोरों की-सी मृत्यु हो रही है । भगवान् कृतान्त को नमस्कार है । क्रूर घातकों को तो अपराधी और निरपराधी में कोई भेद नहीं लगता । मृत्यु की आशंका से मांस को छोड़ कर केवल तिनकों पर जीनेवाले भोले-भाले हिरन को मारने में ही शिकारी का विशेष हठ क्यों होता है ! (चारों ओर देख कर) हाय मित्र ! जिष्णुदास ! मुझे जवाब भी नहीं देते ? ऐसे आदमी ही दुर्लभ हैं जो इस समय दिखाई दें । ये जो आँसू भरी आँखों से मुझे देखते हुए लौट रहे हैं, यह मेरे मित्र ही हैं ।
[घूमता है ।]

दोनों चाण्डाल : (घूम कर तथा देख कर) आर्य्य चंदनदास ! तुम वध्यस्थान में आ चुके हो । अब संबधियों को लौटा दो ।

चंदनदास : आर्य्य ! कुटुम्बिनी ! तुम पुत्र के साथ लौट जाओ ! यह वध्यस्थान है । इससे आगे जाना ठीक नहीं ।

कुटुम्बिनी : (रोते हुए) आप परलोक जा रहे हैं आर्य्य ! देशान्तर नहीं जा रहे । अब हम लौट कर क्या करेंगे ?

चंदनदास : आर्य्य ! यह सत्य है कि मेरी मृत्यु मित्र के कारण हो रही है, किसी दोष के कारण नहीं । यह तो प्रसन्नता का समय है, रोती क्यों हो ?

कुटुम्बिनी : आर्य्य ! यही बात है तो घर वाले क्यों लौट जायें ?

चंदनदास : आर्य्य ! तुम्हारा क्या निश्चय है ?

कुटुम्बिनी : (रो कर) स्त्री को तो पति के चरणों का ही अनुगमन करना चाहिये ।

चंदनदास : आर्य्ये ! यह दुराग्रह है । यह अबोध बच्चा है । इस पर तो दया करो !

कुटुम्बिनी : कुलदेवता प्रसन्न हो कर इस बालक की रक्षा करें । वत्स ! आगे पिता नहीं रहेंगे ! उनके चरणों को प्रणाम करो ।

पुत्र : (पाँवों पर गिर कर) पिता ! आप चले जायेंगे ? अब मैं क्या करूँ ?

चंदनदास : पुत्र ! उस देश में चले जाना जहाँ चाणक्य नहीं हो ।

चाण्डाल : आर्य्य चंदनदास ! सूली गड़ चुकी है । सावधान हो जाओ !

कुटुम्बिनी : आर्य्यो ! रक्षा करो ! रक्षा करो !

चंदनदास : भद्रमुखे ! क्षण भर ठहरो ! ठहर जाओ ! प्राणप्रिये ! क्यों रोती हो ? अब वे देव नंद ही स्वर्ग चले गये जो नित्य स्त्रियों पर दया किया करते थे ।

एक चाण्डाल : अरे वेणुवेत्रक ! इस चंदनदास को पकड़ । घर के लोग अपने आप लौट जायेंगे ।

दूसरा चाण्डाल : अरे वज्रलोमक ! अभी पकड़ता हूँ ।

चंदनदास : भद्रमुख ! एक क्षण और ठहर जाओ । मैं तनिक अपने पुत्र का आलिंगन कर लूँ । (पुत्र से आलिंगन कर, स्नेह से उसका सिर सूँघ कर) पुत्र ! मृत्यु तो कभी न कभी वैसे भी होगी ही, इसीलिये मैं मित्र का कार्य्य पूरा करते हुए इस समय मर रहा हूँ ।

पुत्र : तात ! क्या यह हमारा कुल-परंपरा से आया धर्म है ?
[पंरों पर गिरता है ।]

दूसरा चाण्डाल : अरे वज्रलोमक ! पकड़ !

[दोनों चाण्डाल सूली पर चढ़ाने को चंदनदास को पकड़ते हैं ।]

कुटुम्बिनी : (छाती पीट कर) आर्यो ! बचाओ ! बचाओ !

राक्षस : (पर्दा हटा कर प्रवेश करते हुए) डरो मत ! मत डरो ! अरे सली देने वालो ! अब चंदनदास को मत मारो क्योंकि जिसने शत्रुकुल की भाँति स्वामिकुल विनष्ट होते हुए देखा है, जो मित्रों की आपत्ति में आनंदोत्सव की भाँति रहा और अपमानित हो कर भी जो मरने को तैयार है, ऐसे मुझको पकड़ो ! मुझ अभागे के गले में यमलोक के मार्ग जैसी इस वध्य-चिह्न-माला को डाल दो !

चंदनदास : (बेख कर रोता हुआ) अमात्य ! यह आपने क्या किया ?

राक्षस : तुम्हारे पवित्र चरित्र के केवल एक अंश का अनुकरण ।

चंदनदास : अमात्य ! मेरे सारे उद्योग को ऐसे व्यर्थ कर के क्या आपने उचित किया है ?

राक्षस : मित्र चंदनदास ! उपालम्भ मत दो ! संपूर्ण संसार स्वार्थी है । भद्र ! तुम यह समाचार दुरात्मा चाणक्य से कह दो ।

एक चाण्डाल : क्या ?

राक्षस : दुष्टों के लिये अत्यंत प्रिय इस भयानक कलिकाल में भी जिसने अपने प्राण दे कर दूसरे के प्राणों की रक्षा करने का यत्न किया है, और इस प्रकार शिवि के यश को भी तिरस्कृत कर दिया है; जिस पवित्रात्मा के विशाल चरित्र ने बुद्ध के चरित्र को भी छोटा बना दिया है, ऐसे विशुद्धात्मा, पूजा के योग्य चंदनदास को जिसके लिये तुमने वध्य बनाया है, मैं वही राक्षस हूँ !

एक चाण्डाल : अरे वेणुवेत्रक ! तू तब तक इस श्रेष्ठ चंदनदास को पकड़ कर इस मरघट के पेड़ की छाया में बैठ, मैं आर्य

चाणक्य की सेवा में निवेदन करके आता हूँ कि अमात्य राक्षस पकड़े गये ।

दूसरा चाण्डाल : अरे वज्रलोमक ! ठीक है । यही कर !

एक चाण्डाल : (राक्षस के साथ घूम कर) अरे ! कौन है यहाँ द्वारपालकों में ! नंदवंश की सेनाओं को मारने को वज्र जैसे तथा मौर्य वंश में धर्म-स्थापना करने वाले आर्य्य चाणक्य से निवेदन करो.....

राक्षस : (स्वगत) यह भी राक्षस को ही सुनना है !

एक चाण्डाल : आपकी नीति से कुण्ठित बुद्धि राक्षस पकड़े गये हैं ।

[जवनिका^१ से शरीर ढँके और केवल मुख खोले चाणक्य का प्रवेश]

चाणक्य : (सहर्ष) भद्र ! कहो ! कहो ! ऊँची लपटों के कारण पीली दिखाई देने वाली अग्नि को कपड़े में किसने बाँधा है ? किसने पवन की गति रस्सियों से रोकी है ! किसने मतवाले हाथियों के मद-जल से सुरभित और भींगे हुए सिंह को पिंजरे में बंद किया है ? किसने भयानक मकर, नक्रों से भरे समुद्र को हाथों से तैर कर पार किया है ?

एक चाण्डाल : केवल नीति-निपुण आपने ही ।

चाणक्य : भद्र ! ऐसा नहीं है । कहो कि नंदवंश के द्वेषी दैव ने ही ऐसा किया है ।

राक्षस : (देख कर स्वगत) अरे ! वही दुरात्मा या महात्मा कौटिल्य है ! सारे रत्नों के घर समुद्र की भाँति यह सारे शास्त्रों का

१. जवनिका=जल्दी गिरने वाला पर्दा ।

उत्पत्ति स्थान है। हम इसके गुणों से ईर्ष्या करते हैं, प्रेम नहीं।

चाणक्य : (देख कर सहर्ष) अरे ! यह तो अमात्य राक्षस हैं। जिस महात्मा के कारण देर-देर तक जाग कर बड़े-बड़े उपाय सोचते-करते मौर्य्य सेना और मेरी बुद्धि थक गई है ! (पर्दा हटा कर और पास आ कर) अमात्य राक्षस ! आपको विष्णु गुप्त नमस्कार करता है।

राक्षस : (स्वगत) अब 'अमात्य' विशेषण लज्जा देने वाला-सा लगता है। (प्रगट) अरे विष्णुगुप्त ! मैं चाण्डाल के स्पर्श से दूषित हूँ। मुझे मत छुएँ।

चाणक्य : अमात्य राक्षस ! यह चाण्डाल नहीं है। यह तो आपका पहले का देखा हुआ राज्यकर्मचारी सिद्धार्थक है। वह दूसरा भी राज्यकर्मचारी सुसिद्धार्थक है। इन दोनों से मित्रता करवा के उस रहस्य से बिल्कुल अपरिचित शकटदास से मैंने ही छल के द्वारा वह पत्र लिखवाया था।

राक्षस : (स्वगत) उफ़ ! शकटदास के प्रति मेरा संदेह तो दूर हुआ।

चाणक्य : बहुत क्या कहूँ। संक्षेप में यही है कि भद्रभट्ट आदि राज-सेवक, वह कपट से भरा लेख, वह सिद्धार्थक, वे तीनों आभूषण, वह आपका मित्र क्षपणक, जीर्णोद्यान में गया हुआ पुरुष, और श्रेष्ठि चंदनदास के कण्ट, यह सब मेरे ही द्वारा हुए। (कह कर लज्जा से संकुचित होता है।) और यह सब हे वीरवर ! मैंने आपका चंद्रगुप्त से मिलन कराने को ही किया। देखो ! वह वृषल तुमसे मिलने आ रहा है।

राक्षस : (स्वगत) क्या करूँ ? (प्रगट) देखता हूँ।

[राजा का अनुचरों सहित प्रवेश]

राजा : (स्वगत) बिना युद्ध किये ही आर्य्य ने दुर्जय शत्रुओं को हरा दिया, मैं तो संकोच में गड़ गया हूँ। फन रहते हुए भी काम न करने से लज्जित हो कर ही नीचे मुँह किये तरकस में पड़े बाणों का-सा जीवन मेरे लिये संतोष का विषय नहीं है। मैं राज्य नहीं करता, आर्य्य चाणक्य राष्ट्र-चितन करते हैं। मैं तो धनुष के बिना भी इसी कारण से सारी पृथ्वी के शत्रुओं को जीत सकता हूँ। (चाणक्य के पास जा कर) आर्य्य ! चंद्रगुप्त प्रणाम करता है।

चाणक्य : वृषल ! जो आशीष दिये थे, वे सब सफल हुए। इसलिये आदरणीय अमात्य राक्षस को प्रणाम करो क्योंकि यह तुम्हारे पिता के प्रधान मंत्री हैं।

राक्षस : (स्वगत) इसने तो संबंध करा दिया।

राजा : (राक्षस के पास जा कर) आर्य्य ! मैं चंद्रगुप्त अभिवादन करता हूँ।

राक्षस : (देख कर स्वगत) अरे ! यह चंद्रगुप्त है ! इसके बचपन में ही लोग कहते थे कि यह बड़ा हो कर कुछ होगा। जैसे धीरे-धीरे हाथी अपने झुंड का अधिपति हो जाता है, वैसे ही यह भी अब सिंहासन पर चढ़ गया है। (प्रणट) राजन् ! विजयी हों !

राजा : आर्य्य ! गुरु चाणक्य और संधि-विग्रहादि में जागरूक आपके रहने पर, सोचिये न ? मैंने संसार में क्या है, जो नहीं जीत-लिया ?

राक्षस : (स्वगत) क्या कौटिल्य-शिष्य चंद्रगुप्त मुझे अपना भृत्य स्वीकार कर रहा है ? या यह केवल इसकी नम्रता है ? सब तरह से चाणक्य यशस्वी है। योग्य और पुरुषार्थी राजा को

पा कर तो मूर्ख मंत्री भी कीर्ति प्राप्त कर लेता है, पर अयोग्य राजा के पास जा कर तो अत्यंत नीतिज्ञ मंत्री भी कगारे पर खड़े पेड़ की तरह आश्रय विहीन हो कर गिर जाता है ।

चाणक्य : अमात्य राक्षस ! क्या चंदनदास के प्राणों की रक्षा चाहते हो ?

राक्षस : विष्णुगुप्त ! इसमें कैसा संदेह है ?

चाणक्य : अमात्य राक्षस ! आप बिना शस्त्र उठाये ही चंद्रगुप्त पर अनुग्रह कर रहे हैं, यही संदेह है । यदि तुम सचमुच चंदनदास की रक्षा करना चाहते हो, तो यह शस्त्र ग्रहण करो ।

राक्षस : नहीं विष्णुगुप्त । यह ठीक नहीं है । मैं इसके लिये अयोग्य हूँ । और फिर आपका उठाया शस्त्र धारण करूँ ?

चाणक्य : अमात्य राक्षस ! यह कैसे कहते हो कि तुम अयोग्य हो, और मैं योग्य हूँ । अत्यंत मद-गर्वीले-शत्रु-दमनकारी तुम हो, तुम्हारे भय से इन घोड़ों को देखो, जो निरंतर मुँह में लगाम दबाये रहने से दुर्बल हो गये हैं । इनकी रक्षक सेना के योद्धाओं को देखो, जो सदैव युद्ध-तत्पर रहने के कारण, न खा सके हैं, न पी सके हैं, न नहाते हैं, न चैन पाते हैं । यह देखो इन युद्ध के लिये सजे हाथियों को ! कैसे दीन दिखते हैं । पर अब इस सबसे क्या ? यदि शस्त्र नहीं थामोगे तो चंदनदास भी नहीं बचेगा ।

राक्षस : (स्वगत) देवनंद का स्नेह मेरे हृदय को छू रहा है । मैं उनके शत्रुओं का भृत्य बन गया हूँ ? मुझसे जिसको शत्रुओं ने सींचा है वह वृक्ष स्वयं कैसे काटा जायेगा ? मित्र की प्राण रक्षा के लिये मुझे अमात्यपद का यह शस्त्र आज धारण करना पड़ रहा है ? भाग्य के कार्य भी कितने विचित्र होते

हैं ! (प्रगट) विष्णुगुप्त ! खड्ग लाओ ! सब कुछ जिससे सिद्ध है उस मित्र स्नेह को नमस्कार करता हूँ । कलूँ भी क्या ? मैं उद्यत हूँ ।

चाणक्य : (प्रसन्नता से अपने हाथ का खड्ग उसे समर्पित कर देता है ।)
वृषल ! वृषल ! अमात्य राक्षस ने शस्त्र धारण करके तुम्हें अनुग्रहीत कर दिया है । सौभाग्य से तुम्हारा उत्कर्ष हो रहा है ।

राजा : चंद्रगुप्त आपकी कृपा को जानता है आर्य्य !

पुरुष : (प्रवेश कर) आर्य्य की जय ! आर्य्य ! भद्रभट्ट, भागुरायण आदि हाथ-पाँव बाँधकर मलयकेतु को राजद्वार पर लाये हैं । आप ही विचार करें । आज्ञा दें ।

चाणक्य : हाँ, सुन लिया भद्र ! अमात्य राक्षस से निवेदन करो । अब ये ही सब राज-काज की व्यवस्था किया करेंगे ।

राक्षस : (स्वगत) क्या कौटिल्य मुझे राजसेवक बना कर मेरे ही मुँह से कुछ कहलवाना चाहता है ? कलूँ भी क्या ? (प्रगट) राजन् चंद्रगुप्त ! आप जानते हैं, मैंने कुछ दिन मलयकेतु के यहाँ निवास किया है, अतः इसकी प्राण-रक्षा कीजिये ।

[राजा चाणक्य के मुख की ओर देखता है ।]

चाणक्य : वृषल ! यह अमात्य राक्षस का सबसे पहला प्रेय है । इसे मानना ही चाहिये । (पुरुष को देख कर) भद्र ! मेरी ओर से भद्रभट्ट आदि से कहो कि अमात्य राक्षस की प्रार्थना पर चंद्रगुप्त फिर से मलयकेतु को उसके पिता का राज्य लौटा रहे हैं । इसलिये आप लोग उसके साथ जाइये और उसका राज्याभिषेक करके ही आइये ।

पुरुष : जो आज्ञा आर्य्य !

चाणक्य : ठहर ! भद्र ! ठहर ! देखो भद्र ! ऐसे ही विजयपाल और दुर्गपाल से कह दो कि अमात्य राक्षस ने अमात्य-पद-शस्त्र ग्रहण कर लिया है । इसलिये देव चंद्रगुप्त उनके प्रति प्रेम के कारण यह आज्ञा देते हैं कि श्रेष्ठि चंदनदास पृथ्वी के सारे नगरों में श्रेष्ठिपद पर माने जायें ।

पुरुष : जो आज्ञा आर्य्य !

[प्रस्थान]

चाणक्य : राजन् चंद्रगुप्त ! और तुम्हारा क्या प्रिय करूँ ?

राजा : अब क्या कुछ प्रिय करना रह गया है ? राक्षस जैसा मित्र दिया, राज्य पर मुझे स्थिर कर दिया और सारे नंदों का जड़ से नाश कर दिया । अब और करना ही क्या रहा ?

चाणक्य : विजये ! विजयपाल और दुर्गपाल से कहो कि अमात्य राक्षस से प्रेम होने के कारण देव चंद्रगुप्त आज्ञा देते हैं कि हाथी-घोड़ों को छोड़कर सबको मुक्त कर दो । पर जब अमात्य राक्षस ही नेता हैं, तब उन्हीं से क्या काम ? इसलिये सब हाथी-घोड़े भी छोड़ दो । अब प्रतिज्ञा पूर्ण हुई । मैं भी अपनी शिखा बाँधता हूँ ।

प्रतीहारी : जैसी आर्य्य की आज्ञा ! (प्रस्थान)

चाणक्य : अमात्य राक्षस ! बताओ ! अब मैं तुम्हारा क्या प्रिय करूँ ?

राक्षस : क्या इससे अधिक कुछ और भी प्रिय हो सकता है ? यदि इतने पर संतोष न हो तो फिर—

[भरत वाक्य]

कल्प के प्रारम्भ में घन प्रलय में डूबी घरा ने,
 अतुल बलमय, चिरदयामय विष्णु के अवतार दुर्जय
 वीरवर वाराह के उस दंत का
 आश्रय लिया था,
 आज लज्जों से हुई जब पीड़िता वह
 विष्णु के से सुदृढ़ घन भुजदण्ड वाले वीर निश्चय,
 चंद्रगुप्त महान् के भुजदण्ड का
 आश्रय लिया है,
 वे करें रक्षा घरा की चिर समय तक,
 रहे वैभव सदा उनका भक्त—सेवक !

[सबका प्रस्थान]

[सातवां अंक समाप्त]

